श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा

श्रीठाकुर भक्तिविनोद-विरचित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी
श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय
दशमाधस्तनवर श्रीगौड़ीयाचार्य-केशरी ॐविष्णुपाद
अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी चरणके
अनुगृहीत
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज
द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—

श्रीमद्भक्तिवेदान्त वन महाराज

चतुर्थ संस्करण—

श्रीनृसिंह चतुर्दशी, २२ मई २००५

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५—२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीयमठ,
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५—२४४३२ ७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, दसविसा,
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५—२८१५६६८

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ,
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली,
०११—२५५३३५६८

श्रीखण्डेलवाल एण्ड संस,
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५—२४४३९०९

जगद्गुरु श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'का उपोद्घात (भावानुवाद)

आज विश्वमें अनेकानेक शिक्षाविदों द्वारा परिकल्पित विविध प्रकारकी शिक्षाएँ प्रचलित हैं। जो लोग उन शिक्षाओंको प्राप्त करते हैं, वे लोग अपनी पूर्व धारणानुसार श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाको भी प्रचलित शिक्षाओंके अन्तर्गत एक प्रकारकी शिक्षा मानते हैं। परन्तु उनकी वैसी धारणाएँ कोरी कल्पनाएँ ही हैं। इसका कारण यह है कि लौकिक शिक्षाएँ न्यूनाधिक रूपमें इन्द्रियज ज्ञानपर आधारित होती हैं। आँख, कान, आदि प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्राकृत ज्ञान होता है। इसलिए ये प्रचलित शिक्षाएँ प्राकृत हैं। दूसरी ओर श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंका विषय सम्पूर्ण इन्द्रियातीत अप्राकृत तत्त्व है। इसलिए उनकी शिक्षा-प्रणालीमें प्रवेश करनेके लिए कुछ विशेष बातोंको जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा-प्रणालीको लौकिक शिक्षा-प्रणालीकी श्रेणीमें रखकर सीखना चाहें, तो यह हमारी बड़ी भूल होगी।

लौकिक शब्द-शक्ति अप्राकृत-वस्तुका बोध करानेमें सर्वथा असमर्थ है। गुरु-परम्परासे प्राप्त वेदवाणी—आम्नाय-वाक्यके द्वारा ही अप्राकृत-वस्तुका ज्ञान सम्भव है। बहिर्मुख बद्धजीव वेद-वाक्योंको समझनेमें असमर्थ है। इसलिए वह लक्षणा-वृत्तिके द्वारा कहीं गौण अर्थ और कहीं विपरीत अर्थ ग्रहणकर यथार्थ अर्थ-बोधसे वञ्चित रहता है। इसका कारण यह है कि बद्ध-जीव अपनी प्राकृत इन्द्रियोंकी सहायतासे जो सिद्धान्त निर्धारित करता है, उसमें चार प्रकारके दोष अवश्यम्भावी होते

हैं। ये चार दोष हैं—भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (दूसरोंको वञ्चित करनेकी इच्छा) और करणापाटव (इन्द्रियोंकी अपटुता)। इन्हीं दोषोंके कारण बद्धजीव ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी सहायतासे की गयी शारीरिक और मानसिक चेष्टाओंको ही आत्मचेष्टा मानने लगता है। इस प्रकार वह परमार्थ आत्म-वस्तुकी उपलब्धिसे वञ्चित होता है।

गुरु-परम्परासे प्राप्त श्रौत-पथकी शिक्षा-प्रणालीका ठीक-ठीक अनुसरण करनेसे श्रद्धालु जीव शीघ्र ही आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि करता है। जीवका शुद्ध चित्-स्वरूप प्राकृत स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे आच्छादित रहनेपर उसे स्व-स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती; बल्कि आगन्तुक स्थूल-सूक्ष्म औपाधिक शरीरमें ही उसकी आत्मबुद्धि रहती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाको श्रौत-पथसे—श्रीगुरु-परम्पराके माध्यमसे ग्रहणकर तदनुरूप साधर करनेसे हम अप्राकृत तत्त्वकी यथार्थ अनुभूति कर सकेंगे; अन्यथा इस विषयमें हम असफल रहेंगे।

अणु-चित्स्वरूप जीव विशुद्ध चिन्मय भाव युक्त होता है। शुद्ध चेतनके धर्ममें अचिदालोचना (जड़ अलोचना) की प्रवृत्ति नहीं होती। जड़बद्ध होनेपर ही उसमें अचिदालोचनाकी प्रवृत्ति होती है। चिन्मय जीव अचित् वस्तुओंका अनुशीलन करके कभी भी अनात्मवृत्तिसे ऊपर उठ नहीं सकता है। सबसे पहले जीवके लिए स्वरूपका परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। तभी वह श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षामें प्रवेश कर सकता है। भगवान् अद्वयज्ञान तत्त्व-वस्तु हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं। जीव भगवान्की तटस्थाशक्तिसे प्रकटित विभिन्नांश तत्त्व हैं। भगवानसे किसी अंशमें भेद रहनेपर भी जीवमें उनसे पूर्ण स्वतन्त्र रहनेकी शक्ति नहीं है।

जीव स्वरूपतः भगवत्-शक्ति है। भगवत्-सेवा ही उसका स्वरूप धर्म है। भगवत् सेवासे विमुख होनेके कारण ही जीव बद्ध हुआ है। पुनः किसी विशेष सौभाग्यसे साधुसंगमें भक्तिका अनुशीलन करनेपर वह अपने स्वरूप-धर्ममें प्रतिष्ठित हो सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षामें जीवके स्वरूप-धर्मका तथा उसे प्राप्त करनेकी प्रणालीका सहज-सरल रूपमें वर्णन किया गया है। इसका अनुसरण करनेसे जीव सहज ही भगवत्प्रेम लाभ कर सकता है।

जो लोग उक्त श्रौत-पथको छोड़कर शुष्क तर्कके बलपर परमार्थ-तत्त्वको जानता चाहते हैं, उनका सारा प्रयास भूसेको कूटकर चावल प्राप्त करनेकी आशाके समान व्यर्थ है। तर्क-पथ सीमाविशिष्ट और परिच्छिन्न है। उसके द्वारा वैकुण्ठ-वस्तुको जानना असम्भव है। भगवत् कृपासे ही भगवान्को जाना जा सकता है। जहाँ श्रौत-पथका आदर नहीं है, वहाँ जीव या तो कर्म मर्गका आश्रय कर भोगमय राज्यमें प्रवेश कर आत्म-वञ्चना करता है अथवा त्याग-पथका अवलम्बन कर निर्विशेष मुक्तिरूप आत्मविनाशके राज्यमें प्रवेश करता है। जिस समय जीव भोग और त्याग—दोनोंकी व्यर्थता उपलब्धि कर लेता है, उसी समय वह श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा-ग्रहणका अधिकारी होता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका जो लोग धारावाहिक रूपमें अनुशीलन करना चाहते हैं, उन्हें इस ग्रन्थमें लिखित विषयोंको अच्छी तरहसे समझनेके लिए विशेष मनोनिवेश करना चाहिए। उन्हें श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षामें प्रवीण अनुरागी भक्तोंका सङ्ग करना चाहिए। उनके सङ्ग और सेवासे उक्त अप्राकृत विषय समूह

क्रमशः हृदयङ्गम हो जाते हैं। कुछ लोग श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाको पढ़कर विद्वेषी हो पड़ते हैं, कुछ लोग उसे नितान्त कठिन मानकर ग्रहण करनेके अयोग्य समझते हैं और कुछ लोग श्रद्धासे नतमस्तक होकर ग्रहण करते हैं। हम इन तीनों प्रकारके पाठकोंसे श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा-प्रणालीका अनुधावन करनेके लिए नम्रतापूर्वक निवेदन करते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षासे सर्वप्रथम प्रमाण-तत्त्वका विवेचन दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात् उक्त श्रेणीके स्वयंसिद्ध शब्द-प्रमाणके द्वारा नौ प्रकारके प्रमेय तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आर्ष, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा और अर्थापत्ति आदि प्रमाणसमूह सांसारिक विषयोंके लिए कुछ सीमातक उपयोगी होनेपर भी अप्राकृत विषयोंमें इनकी उपयोगिता नहीं है। परन्तु आम्नाय-वाक्यके अनुगत होनेपर सहायक रूपमें इनकी कुछ-कुछ उपयोगिता हो सकती है। सत्सङ्गसे जीवकी सेवोन्मुखी वृत्ति उदित होनेपर उनके हृदयमें अप्राकृत- तत्त्वकी स्फूर्ति होती है। इस विषयमें केवल आम्नायवाक्य ही प्रमाण हैं। उसमें भी वेद-वाक्योंका अर्थ अभिधा-वृत्तिसे ही ग्रहण करना श्रेयस्कर है। लक्षण-वृत्तिसे उनका अर्थ ग्रहण करनेसे हमें मूल-प्रयोजनकी प्राप्तिसे वञ्चित होना पड़ेगा।

शब्द-प्रमाणके अन्तर्गत श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। यह श्रौत-प्रमाणका प्रबल दुर्भेद्य दुर्ग है। इसमें प्राकृत शुष्क तर्कोंकी असारता दिखलायी गयी है। निरपेक्ष सत्यका अनुसन्धान करनेवालोंके लिए श्रीमद्भागवत ही एकमात्र "अमल प्रमाण" है। यह ब्रह्मसूत्रका अकृत्रिम भाष्य है। तत्त्वज्ञ भागवतोंके आनुगत्यमें श्रीमद्भागवतका अनुशीलन करनेवाले श्रद्धालु व्यक्ति ग्रन्थोक्त नौ

प्रकारके प्रमेयोंसे श्रीगौरसुन्दरकी वाणीके रूपमें अवगत हो सकेंगे।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकर श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने इस छोटेसे ग्रन्थमें शब्द प्रमाणके आधारपर नौ प्रकारके प्रमेयोंका हृदयस्पर्शी सिद्धान्तपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। पाठकगण मनोनिवेशपूर्वक इस ग्रन्थका पाठ करें। तदनन्तर श्रीचैतन्य महाप्रभुके लीला-ग्रन्थ श्रीचैतन्य-भागवत और श्रीचैतन्यचरितामृतका आदरपूर्वक अनुशीलन करें। तभी महावदान्य श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाको धारण कर सकेंगे और अपने जीवनको सार्थक कर सकेंगे।

प्रस्तावना

श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरजी कलियुग पावनावतारी श्रीराधाभाव-द्युति सुवलित श्रीशचीनन्दन श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अन्तरङ्ग नित्य-परिकर हैं। ये श्रीमन्महाप्रभुजीके मनोभीष्ट श्रीहरिनाम-संकीर्तन एवं शुद्धा भगवद्-भक्तिका विश्वमें प्रचार-प्रसारके लिए इस जगतीतल पर अवतरित हुए थे। पश्चिम बंगालमें श्रीधाम नवद्वीपके अन्तर्गत श्रीमायापुरके निकट बीरनगर नामक ग्राममें एक शिक्षित-सम्भ्रान्त एवं उच्चकुलमें २ सितम्बर, १८३८ ई. में आविर्भूत हुए थे। इनका तिरोधान कलकत्ता महानगरीमें २३ जून १९१४ ई. को हुआ। यदि ये जगत्में आविर्भूत न हुए होते, तो श्रीचैतन्य महाप्रभुकी आविर्भाव आदि लीलास्थलियाँ तथा उनकी शिक्षाएँ आज विश्वसे विलुप्त हो जातीं। आज विश्वके कोने-कोनेमें जो हरिनाम संकीर्तनकी धूम मच रही है तथा श्रीगौरकृष्ण-भक्तिकी उत्तुंग तरंगें विश्वको आप्लावित कर रही हैं, उसके पुनः प्रवर्तक ये श्रीभक्तिविनोद ठाकुरजी ही हैं। इन्होंने संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, उड़िया आदि विभिन्न भषाओंमें लगभग एक सौ भक्ति-ग्रन्थोंकी रचना की है। उनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ मुद्रण-यन्त्रके द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। अभी भी उनके कतिपय ग्रन्थ हस्तलिपिके रूपमें आत्मगोपन किये हुए हैं।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीने 'दशमूल-तत्त्व' का आविष्कार कर श्रीगौड़ीय जगतमें युगान्तर ला दिया है। केवल गौड़ीय वैष्णव-जगतके लिए ही नहीं, अपितु समग्र वैष्णव-जगतके लिए

यह अभिनव आविष्कार है। इस दशमूल-तत्त्वके आधार पर इन्होंने जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया है, उनमें जैव-धर्म, श्रीचैतन्यशिक्षामृत और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा—ये तीन ग्रन्थ सर्वोत्तम हैं।

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायैकसंरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत भारतव्यापी **श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता-आचार्य मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव परमहंसकुल-चूड़ामणि ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी चरणने** स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके बहुतसे ग्रन्थोंको बंगला भाषामें पुनः प्रकाशित किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि इन बंगला भाषाके भक्ति-ग्रन्थोंका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित होना चाहिए, जिससे हिन्दीभाषी जन-साधारणमें भी शुद्धाभक्तिका प्रचार-प्रसार हो। इसलिए उन्होंने श्रीमथुरा धाममें **"श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ"** की स्थापना करके वहींसे **"श्रीभागवत-पत्रिका"** नामक मासिक पत्रिकाका प्रकाशन कार्य आरम्भ किया। उनकी विशेष कृपा और प्रेरणासे उक्त पत्रिकामें जैव-धर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत तथा श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा आदि ग्रन्थोंके अनुवाद क्रमशः प्रकाशित हुए हैं। इनमेंसे जैव-धर्म पृथक् ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित हो चुका है। श्रीचैतन्य-शिक्षामृतकी प्रतिलिपि प्रस्तुत है। शीघ्र ही उसे भी पाठकोंके समक्ष उपस्थित करनेकी लालसा है। प्रस्तुत **"श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा"** ग्रन्थ पहले श्रीपत्रिकामें क्रमशः प्रकाशित हो चुका है, अब पृथक् ग्रन्थके रूपमें पाठकोंके करकमलोंमें उपस्थित है।

परमाराध्य अष्टोत्तरशत श्रीगुरुपादपद्मका इस ग्रन्थके विषयमें

अभिमत इस प्रकार है :—

"यह ग्रन्थ क्षुद्राकार होनेपर भी परमोच्च कोटिके दार्शनिक तथ्यों एवं विचारोंसे परिपूर्ण है। यदि कोई श्रीचैतन्य महाप्रभुकी दार्शनिक शिक्षाओंसे अवगत होना चाहते हैं, तो उनके लिए इस ग्रन्थका पाठ करना सर्वाधिक उपादेय होगा। इस ग्रन्थके विषयमें यदि हम यह कहें कि गौड़ीय गोस्वामीवर्गके सारे ग्रन्थोंका सार इस ग्रन्थमें गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। और तो क्या, श्रीगौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायकी तत्त्व-शिक्षाके सम्बन्धमें इससे बढ़कर कोई भी दार्शनिक ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है—ऐसा मुक्त कण्ठसे कहा जा सकता है। लोग विशुद्ध वैष्णव-धर्मके सिद्धान्तोंका अनुशीलन या गवेषणा करना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ परमादरणीय होगा।

इस ग्रन्थका और भी एक प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि इसमें किसी सम्प्रदायको व्यर्थ ही ऊँचा-नीचा दिखलानेके लिए किसी प्रकारका प्रयास नहीं किया गया है; किन्तु विश्वके सारे अपसम्प्रदायोंकी चिन्ताधाराएँ शास्त्र-विरुद्ध और अमङ्गलजनक हैं—इसे इसमें शास्त्रीय प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियोंके द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस ग्रन्थका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होनेसे धर्मके सम्बन्धमें प्रचलित अनेकानेक भ्रान्तियोंका निराकरण होगा—इसमें सन्देह नहीं है।"

अन्तमें यह निवेदन है कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्तमान सभापति एवं आचार्य मेरे सतीर्थवर **परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज** एक परमोत्साही पराविद्यानुरागी एवं प्रभावशाली आचार्य हैं। अधिकन्तु जगद्गुरु "श्रीश्रीआचार्य केशरी" के प्रियपात्र हैं। इन्हींकी विशेष कृपा एवं प्रेरणासे

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका यह हिन्दी–संस्करण प्रकाशित हो रहा है। ये अस्मदीय परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेवके श्रीकरकमलोंमें उनके इस ग्रन्थको समर्पणकर उनका प्रीति–विधान करें—यही इनके श्रीचरणोंमें कातर प्रार्थना है। ग्रन्थकी प्रतिलिपि और प्रूफ–संशोधन आदि विविध सेवा–कार्योंके लिए श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान् नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुधन्व ब्रह्मचारी और श्रीमान् अनङ्गमोहन ब्रह्मचारी आदिके नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति–पिपासु विद्वत् मण्डलीमें इस ग्रन्थका समादर होगा। श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठ करके श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रेमधर्ममें अधिकार प्राप्त करेंगे। श्रीभगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्य अष्टोत्तरशतश्री श्रीगुरुपादपद्म हमारे प्रति प्रचुर कृपाशीर्वाद करें—उनके प्रेमद श्रीश्रीचरणकमलोंमें यह सकातर प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीगुरुपादपद्मकी तिरोभाव–तिथि
शारदीय रासपूर्णिमा
भारतीयाब्द १९१३
(२३ अक्टूबर १९९१ ई०)

श्रीगुरुवैष्णव कृपालेश प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु—
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ०प्र०)

सम्पादकीय वक्तव्य

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग और श्रीश्रीराधा विनोदबिहारीजीकी अनुकम्पासे 'श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थका पाँचवा संस्करण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। अल्प समयमें ही इस ग्रन्थका चतुर्थ संस्करण निःशेष हो जाना ही इसकी अत्यन्त लोकप्रियताका प्रमाण है। विशेषतः विश्व की सभी प्रमुख भाषाओंमें इसका रुपान्तर हो रहा है तथा सर्वत्र प्रचार हो रहा है, यह भी इसकी लोकप्रियताका प्रमाण है।

चतुर्थ संस्करणकी त्रुटियोंको सुधारकर कम्पूटर द्वारा इसकी कम्पोजिंग कराकर आकर्षक और सुन्दर रूपमें इसे छपवाया जा रहा है। प्रस्तुत संस्करणकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ–संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए श्रीमान परमेश्वरीदास ब्रह्मचारी, सुबलसखादास ब्रह्मचारी, चिदानन्ददास ब्रह्मचारी, उत्तमकृष्णदास ब्रह्मचारी आदिकी सेवा चेष्टा अत्यन्त प्रशंसनीय है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इन सबपर प्रचुर कृपा आशीर्वाद वर्षण करें यही उनके श्रीचरणोंमें प्राथना है।

श्रीगौरपूर्णिमा,
गौराब्द ५१९
श्रीधाम नवद्वीप

श्रीहरिजनकिङ्कर
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

वर्णानुक्रमिक श्लोक-सूची

बंगला पयार–सूची

परिच्छेद-सूची

श्रीचैतन्य महाप्रभुका क्या मत है?—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

(श्रील चक्रवर्ती ठाकुर)

भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण एवं वैसा ही वैभवयुक्त श्रीधाम वृन्दावन भी आराध्य वस्तु हैं। ब्रजवधुओंने जिस भावसे कृष्णकी उपासना की थी, वह उपासना ही सर्वोत्कृष्ट है। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही निर्मल शब्द प्रमाण एवं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत है। यह सिद्धान्त ही हम लोगोंके लिए परम आदरणीय है, अन्य मत आदर योग्य नहीं है।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीचैतन्य–महाप्रभुकी शिक्षा

प्रथम परिच्छेद

दशमूल–तत्त्व

स्वयं–भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे आज विश्वमें सर्वत्र ही श्रीचैतन्य महाप्रभुका नाम फैल रहा है। विश्वके बड़े–बड़े विद्वान्, वैज्ञानिक एवं गवेषक आज श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवन–चरित्र एवं उनकी शिक्षाओंके सम्बधमें अधिकसे अधिक जानना चाहते हैं। फलस्वरूप हमारे देशके युवकोंकी भी इस विषयमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वे इस मार्गकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनकी यह मान्यता क्रमशः दृढ़तर होती जा रही है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु जैसा यथार्थ उपदेष्टा और कोई नहीं है तथा विशुद्ध वैष्णव धर्म जैसा कोई धर्म भी कहीं नहीं है। इसीलिए आज वे लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा एवं विशुद्ध वैष्णव धर्मको जाननेके लिए उत्सुक हैं।

विद्वन्मण्डलीमें भी इस प्रकारका विश्वास बढ़ता जा रहा है कि मानव–धर्म भी अनेक प्रकारका नहीं हो सकता है। बल्कि मनुष्य मात्रका धर्म एक ही होना चाहिए। जो धर्म मनुष्यके लिए नित्य है, वह उत्तरी गोलार्द्धमें अथवा दक्षिणी गोलार्द्धमें, उत्तर ध्रुवमें अथवा दक्षिण ध्रुवमें कदापि भिन्न–भिन्न प्रकारका नहीं हो सकता। वास्तवमें नित्य–धर्म एक है; किन्तु विश्वमें अनेक प्रकारके धर्म क्यों प्रचलित

हुए? इसका यथार्थ उत्तर यह है कि विशुद्ध अवस्थामें जीवका धर्म एक होता है; किन्तु जड़बद्ध होनेपर जीवका धर्म प्रथमतः दो रूपोंमें प्रकाशित है, अर्थात् सोपाधिक और निरुपाधिक। निरुपाधिक धर्म या विशुद्ध धर्म देश काल या भाषाके भेदसे कभी भी भिन्न-भिन्न प्रकारका नहीं होता। किन्तु जड़ उपाधिसे ग्रस्त जीवकी देश, काल, पात्र भेदसे प्रकृति पृथक्-पृथक् होनेके कारण उनका सोपाधिक धर्म भी देश और कालादि भेदसे सहज ही पृथक् हो पड़ता है। यह सोपाधिक धर्म ही भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें विभिन्न नामोंसे जाना जाता है। जीव मायिक उपाधिसे जितना ही अधिक परिष्कृत होता है, उसका धर्म भी उतना ही निरुपाधिक होता जाता है। निरुपाधिक अवस्थामें सभी जीवोंका एक ही नित्य-धर्म होता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उपरोक्त नित्य-धर्मकी ही शिक्षा विश्वको दी है और इसी धर्मका नाम विशुद्ध वैष्णव धर्म है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें ऐसा कहा गया है—

मथुराते पाठाइल रूप-सनातन।
दुई सेनापति कैल भक्ति प्रचारण॥
नित्यानन्द गोसाईं पाठाइल गौड़ देशे।
तिहों भक्ति प्रचारिल अशेष विशेषे॥
आपनि दक्षिण देशे करिला गमन।
ग्रामे ग्रामे कैल कृष्ण-नाम-प्रचारण॥

(चै. च. आदि ७/१६४-१६६)

अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभुजी संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् श्रीजगन्नाथपुरीमें पधारे और वहींसे उन्होंने विशुद्ध वैष्णव धर्मका

प्रचार करना एवं कराना आरम्भ किया। उन्होंने श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामी जैसे भक्तिसिद्धान्तके महारथियोंको मथुरा-मण्डलमें भेजकर उनके सेनापतित्वमें वहाँ शुद्ध भक्तिका प्रचार कराया। श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभुजीको गौड़ देश (बंगाल) में भेजकर वहाँके शूद्र एवं अधम चाण्डालों तक में शुद्ध भक्तिका प्रचार कराया। स्वयं दक्षिण भारतके विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण कर वहाँके ग्रामों-ग्रामों एवं नगरों-नगरोंमें कृष्ण नाम और कृष्ण भक्तिका प्रचार किया।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने स्वयं एवं अपने द्वारा प्रेरित सेनापतियोंके द्वारा जगतको जो शिक्षा प्रदान की, वह इस प्रकार है—

अतएव माली आज्ञा दिल सबाकारे।
जाँहा ताँहा प्रेमफल देह जारे तारे॥
भारत भूमिते हैल मनुष्य जन्म जार।
जन्म सार्थक करि, कर पर-उपकार॥

(चै. च. आदि ९/३६ व ४१)

अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभुरूपी मालीने सबको भक्तिरूपी प्रेमफल यत्र-तत्र-सर्वत्र वितरित करनेके लिए आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि भारत भूमिमें जिसको मनुष्य जन्म मिला है, वे स्वयं शुद्ध भक्तिका आचरणकर अपने जीवनको सार्थक बनायें और दूसरोंमें भी शुद्ध भक्ति धर्मका प्रचारकर परोपकार करें।

अब आदरणीय पाठकवृन्द विचार करें कि यदि निरपेक्ष विचारकजन अन्यान्य धर्मोंके प्रचारकोंकी शिक्षाओंको छोड़कर हमारे प्राणेश्वर श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित एवं प्रचारित विशुद्ध वैष्णव-धर्मकी शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? ऐसी स्थितिमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाओंको यथावत् रूपमें विश्वको प्रदान करना ही हमारा परम पुनीत कर्तव्य है।

कुछ क्षुद्र बुद्धिवाले व्यक्ति इसका सुयोग लेकर नाना–प्रकारके स्वकपोल–कल्पित मतका प्रचारकर निरपेक्ष विचारसम्पन्न नवयुवकोंको भ्रान्त पथमें ले जानेकी चेष्टा कर रहे हैं। कुछ लोग सरल सहज पथको छोड़कर दूसरे कठिन एवं अवांछित पथका अवलम्बनकर जगत एवं स्वयंको वंचित कर रहे हैं। अतः हमारे श्रद्धास्पद शिक्षित युवकोंके उपकारके लिए हम यथासाध्य प्रयत्न करेंगे। शुभ कार्योंमें स्वार्थपरताके समान और कुछ भी प्रतिबंधक नहीं है। कुछ लोग जानबूझकर भी स्वार्थसिद्धिके लिए कुमतोंका प्रचार करते हैं। पाठकवृन्द! हमारा इसमें किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं है। धन, यश, प्रभाव, आचार्य–अभिमान आदि किसी प्रकारकी भी कोई लालसा नहीं है। हमलोग केवल यह चाहते हैं कि वैष्णव–सन्तोंकी कृपासे श्रीचैतन्य महाप्रभुके उपदेशामृतका हमने जिस रूपमें पान किया है, उसी रूपमें सभी उसका पान करें।

कुछ दिन पूर्व "श्रीचैतन्य–मत–बोधिनी" नामक एक नवीन पत्रिका प्रकाशित हुई है। उक्त पत्रिकाके लेखकोंने श्रीमन्महाप्रभुके विशुद्ध मत प्रचार करनेका संकल्प ग्रहण किया है। यह संकल्प बुरा नहीं है; किन्तु जिस प्रणालीका अवलम्बनकर श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाओंको संग्रह करनेके लिए प्रस्तावना की गई है, वह नितान्त भयावह है। लेखकोंने श्रीरूप–सनातन आदि गोस्वामियोंके संस्कृत ग्रन्थोंसे श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाओंको संग्रह करनेका विचार किया है। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि पूजनीय गोस्वामियोंके समस्त ग्रन्थोंका सारांश बंग भाषामें "श्रीचैतन्य–चरितामृत"के रूपमें देदीप्यमान है। उक्त ग्रन्थका अवलम्बनकर श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाओंका विश्वमें प्रचार करना ही यथेष्ट हैं। श्रीकृष्णदासकविराज गोस्वामी जैसा तत्त्ववेत्ता पण्डित आज कल कोई नहीं हैं। यदि कोई ऐसा समझते

हैं कि हम स्वयं अपनी बुद्धिसे गोस्वामीकृत संस्कृतके बृहत् ग्रन्थ-भन्डारसे ऐसा सार निकालेंगे कि कविराज गोस्वामी भी वैसा नहीं कर पाये हैं, तो यह उनका नितान्त भ्रम है। हम अपनी क्षुद्र बुद्धिसे ऐसा स्थिर करते हैं कि श्रीचैतन्य-चरितामृतकी शिक्षाओंको विशद् रूपमें जगतको प्रदान करने पर और कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहेगा। परन्तु एक विशेष बात यह है कि श्रीकविराज गोस्वामीके पयारोंमें बहुत-सी बातें गूढ़ रूपमें कही गई हैं। ऐसे-ऐसे स्थलोंमें श्रीगोस्वामीकृत सन्दर्भ, श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थोंसे मूल वाक्योंको उद्धृत कर उन तत्त्वोंको सरल-सहज रूपमें हृदयङ्गम करा देना ही उपादेय होगा। अतः चैतन्य-मत-बोधिनीका प्रयास पहाड़ खोदकर चूहिया निकालनेके समान व्यर्थ है।

हम इस क्षुद्र ग्रन्थमें श्रीचैतन्य-चरितामृतसे उद्धृतकर श्रीमन्महाप्रभुके उपदेशामृतको विशद् रूपमें प्रकाशित कर रहे हैं। आदरणीय पाठको! आपके श्रीचरणोंमें हमारा एक निवेदन है। श्रीचैतन्य-महाप्रभुकी शिक्षाएँ गूढ़ वैज्ञानिक तत्त्वोंके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। बिना मनोनिवेश-पूर्वक पढ़े, उनको समझना कठिन है। आजकल कुछ लोग भोजन आदिके पश्चात् पलंग पर लेटकर उपन्यास-ग्रन्थोंका जैसे पाठ करते हैं, वैसे इस ग्रन्थका पाठ करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। ये समस्त शिक्षाएँ वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंके निगूढ़ तत्त्व हैं। श्रद्धापूर्वक विशेष मनोयोगके साथ आनुगत्यमें धीरे-धीरे पाठ करनेसे इन्हें हृदयङ्गम किया जा सकता है। अतः पूर्व-कुसंस्कारोंका परित्यागकर विशेष यत्नके साथ इस "दशमूल सिद्धान्त तत्त्व" नामक अध्यायका पाठकर हमें कृतार्थ करें।

श्रीमन्महाप्रभुजीने जहाँ भी, जो भी शिक्षा दी है, वहाँपर उसे उन्होंने सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन, इन तीन विभागोंमें विभक्तकर

उसकी सुन्दर रूपसे व्याख्या की है। श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा देते हुए उन्होंने कहा है—

वेदशास्त्रे कहे सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन।
कृष्ण, कृष्णभक्ति, प्रेम—तिन महाधन॥
गौण मुख्य-वृत्ति किवा अन्वय व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥

(चै. च. म. २०/१४३, १४६)

इसका तात्पर्य यह है कि वेद, वेदान्त आदि शास्त्र ही एकमात्र शास्त्र हैं। वेद जो कहते हैं वही सत्य है। वेद-शास्त्रोंके अनुगत होकर चलना ही साधु पुरुषोंका कर्तव्य है। वेदमें कहीं-कहीं गौणवृत्तिका अवलम्बन कर, कहीं-कहीं मुख्यवृत्तिका अवलम्बन कर कहीं-कहीं अन्वय भावसे और कहीं-कहीं व्यतिरेक भावसे एकमात्र श्रीकृष्णका ही प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। अतएव वेदोंके आदि, मध्य और अन्त—सर्वाङ्गीण सम्बन्ध अनुशीलन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एकमात्र श्रीकृष्ण ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं। वेदोंका अभिधेय विचार करनेसे कृष्ण-भक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जाता। उसी प्रकार उनका प्रयोजन विचार करनेसे कृष्ण-प्रेम-धनके अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। हम सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वका विशद् रूपसे विवेचन करनेके लिए श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित एवं प्रचारित दस सिद्धान्तोंको एक श्लोकके आकारमें वर्णन कर क्रमशः उनमेंसे एक-एक तत्त्वका पृथक्-पृथक् रूपमें विवेचन करेंगे। सिद्धान्त श्लोक इस प्रकार है—

आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्तिं रसाब्धिं
तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृति-कवलितान् तद्विमुक्तांश्च भावात्।
भेदाभेद-प्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं शुद्धभक्तिं

साध्यं तत् प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्रः स्वयं सः॥

स्वयं भगवान श्रीगौरसुन्दरने इन दस सिद्धान्तोंका उपदेश दिया है—

(१) आम्नाय वाक्य अर्थात् गुरु-परम्परासे चलते आ रहे वैदिक वाक्य ही प्रधान प्रमाण हैं। उनके द्वारा निम्नलिखित नौ प्रकारके सिद्धान्तोंका उपदेश दिया गया है।

(२) श्रीकृष्ण-स्वरूप हरि ही जगतमें परमतत्त्व हैं।

(३) वे सर्वशक्तिमान हैं।

(४) वे अखिल रसामृत-सिन्धु हैं।

(५) समस्त जीव हरिके विभिन्नांश तत्त्व हैं।

(६) तटस्थ गठनवशतः जीव बद्ध दशामें प्रकृतिके द्वारा बद्ध हैं।

(७) तटस्थ धर्मवशतः जीव-समूह मुक्त दशामें माया प्रकृतिसे मुक्त हैं।

(८) जीव-जड़ात्मक समस्त विश्वका हरिसे युगपत् भेद और अभेद है।

(९) शुद्ध भक्ति जीवोंके लिए एकमात्र साधन है।

(१०) शुद्ध कृष्ण-प्रीति ही जीवोंका साध्य है।

प्रथम सिद्धान्तमें प्रमाण तत्त्वका विचार निहित है। द्वितीयसे अष्टम सिद्धान्त तकमें वेदोंके प्रतिपाद्य सम्बन्ध तत्त्वका विचार है। नवम सिद्धान्तमें अभिधेय तत्त्वका विवेचन है। दशम सिद्धान्तमें प्रयोजन तत्त्वका विवेचन किया गया है। इन सिद्धान्तोंको प्रमाण और प्रमेय इन दो भागोंमें विभक्त करनेसे प्रथम सिद्धान्तमें प्रमाणका विचार और द्वितीयसे दशम सिद्धान्त तकमें प्रमेयका विचार किया गया है। द्वितीयसे अष्टम सिद्धान्त तक जिस सम्बन्ध-तत्त्वका

विवेचन हुआ है, उसमें द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सिद्धान्तमें श्रीकृष्ण तत्त्वको स्पष्ट किया गया है। पंचम, षष्ठ एवं सप्तम सिद्धान्तमें जीव तत्त्वका विचार है। अष्टम सिद्धान्तमें कृष्ण और जीव इन दोनोंके परस्पर सम्बन्धका विचार है। भेद और अभेद शब्दसे अचिन्त्य-भेदाभेद समझना चाहिए। अब पाठकवर्ग पृथक्-पृथक् विषयोंके विचारमें मनोनिवेश करें।

द्वितीय परिच्छेद

आम्नाय वाक्य ही मूल प्रमाण है

आम्नाय वाक्य किसे कहते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें निम्नलिखित कारिका उद्धृत की जा रही है:—

आम्नायः श्रुतयः साक्षात् ब्रह्मविद्येति विश्रुताः।
गुरुपरम्पराप्राप्ताः विश्व कर्त्तुर्हि ब्रह्मणः॥

विश्वकर्ता ब्रह्मासे गुरु-परम्पराके माध्यमसे प्राप्त ब्रह्मविद्या नामक श्रुतियोंको आम्नाय कहते हैं। जैसे—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्वभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

(मुण्डक १/१/ १व १/२/१३)

—विश्वकर्ता भुवन-पालक आदिदेव ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको सर्वविद्याकी प्रतिष्ठा रूपिणी ब्रह्म-विद्याकी शिक्षा दी थी। जिस ब्रह्म-विद्याके द्वारा सत्य-स्वरूप अक्षर पुरुष जाने जाते हैं, उस ब्रह्म-विद्याकी तत्त्वोंके सहित शिक्षा दी थी—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदार्थवाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥

(वृहदारण्यक २/४/१०)

परमपुरुष ईश्वरके निःश्वाससे चार वेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और अनुव्याख्या—ये सभी प्रकाशित हुए

हैं। इतिहाससे रामायण और महाभारत आदिको समझना चाहिए। 'पुराण' शब्दसे श्रीमद्भागवतादि अष्टादश महापुराणोंसे तात्पर्य है। ईश, केन, कठ, प्रश्न आदि एकादश उपनिषद् हैं। ऋषियोंके द्वारा रचित अनुष्टूपादि छन्दोग्रन्थ हैं। प्रधान-प्रधान तत्त्वाचार्योंके द्वारा रचित वेदार्थ-सूत्रोंको सूत्र कहते हैं। उन सूत्र-ग्रन्थोंके ऊपर आचार्योंके द्वारा लिखित भाष्य इत्यादिको व्याख्या कहते हैं। ये सभी 'आम्नाय' शब्दसे परिचित होते हैं। 'आम्नाय' शब्दका मुख्य अर्थ है—वेद। श्रीचैतन्य चरितामृतमें इसे स्पष्ट किया गया है—

स्वतः प्रमाण वेद प्रमाण-शिरोमणि।
लक्षणा करिले स्वतः प्रमाणता हानि॥

(चै. च. आदि ७/१३२)

अर्थात् स्वतः प्रमाण वेद ही श्रेष्ठ प्रमाण हैं। अर्थ दो प्रकारके होते हैं—मुख्य अर्थ, जिसे अभिधा भी कहते हैं और गौण अर्थ, जिसे लक्षणा भी कहते हैं। वेदोंके अभिधा अर्थ ही प्रमाणित हैं। लक्षणा अर्थ प्रमाणके रूपमें गण्य नहीं हैं। पुनः-

प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमाण प्रधान।
श्रुति जे मुख्यार्थ कहे सेइ प्रमाण॥
स्वतःप्रमाण वेदवाक्य सत्य जेइ कहे।
लक्षणा करिले स्वतः प्रामाण्य हानि हये॥

(चै. च. म. ६/१३५ व १३७)

—श्रुति प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। श्रुतियोंके मुख्यार्थ ही प्रमाण हैं। लक्षणासे जो अर्थ किए जाते हैं, उससे स्वतः प्रमाणताकी हानि होती है।

गोस्वामियोंके षट्सन्दर्भ और श्रीचैतन्य-चरितामृत आदि ग्रन्थ पूर्वोक्त अनुव्याख्याके अन्तर्गत गणनीय हैं। अतएव वेद, पुराण,

इतिहास, उपनिषद्, वेदान्त, सूत्र और वैष्णवाचार्योंके द्वारा रचित भाष्य आदि ग्रन्थ आप्तवाक्य या आम्नाय वाक्य हैं। इन आप्तवाक्योंका विशेष माहात्म्य श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें वर्णन किया गया है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥
तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।

★ ★ ★

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा।
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥

(भा. ११/१४/३-७)

—श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—मैंने सर्वप्रथम ब्रह्माको वेद-वाणीका उपदेश दिया था। उसमें मेरे स्वरूप-निष्ठ विशुद्धभक्तिका वर्णन किया गया है। भक्ति ही जीवका स्वरूप धर्म है। वह वेद-वाणी नित्य है। प्रलय कालमें वह लुप्त हो जानेपर सृष्टिके प्रारम्भमें पुनः उसका उपदेश ब्रह्माको करता हूँ, ब्रह्मा पुनः उसका उपदेश अपने पुत्र मनु आदिको करते हैं। क्रमशः परंपरा क्रमसे देवगण, ऋषि और मनुष्य सभीने वेदवाणीको प्राप्त किया। प्रकृतिके संसर्गसे सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक आदि नाना-प्रकारके स्वभावोंको प्राप्तकर अल्पज्ञ लोगोंने अपने-अपने स्वभावानुसार वेदोंके पृथक्-पृथक् अर्थ किये हैं और उसके द्वारा नाना-प्रकारके विचित्र मतवादोंकी सृष्टि की है। उद्धव! जो लोग ब्रह्मासे गुरु परम्पराके क्रमानुसार उस वेद-वाणीकी यथार्थ अनुव्याख्या इत्यादिको प्राप्त हुए हैं, वे ही शुद्ध मतको ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत जो लोग ब्रह्मासे चलते आ रहे

गुरु-परम्पराको अस्वीकार कर स्वेच्छापूर्वक वेदोंके स्वकल्पित अर्थोंका प्रचार करते हैं, वे पाखण्ड मतके प्रचारक हैं।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म-सम्प्रदाय नामक एक सम्प्रदाय सृष्टिके प्रारम्भसे ही चलता आ रहा है। इसी सम्प्रदायमें ब्रह्मासे प्रारम्भ कर गुरु-परम्पराके माध्यमसे प्राप्त वेदवाणी विशुद्ध रूपमें संरक्षित है। इसी विशुद्ध वेदवाणीको ही भागवत-धर्म कहते हैं। इसीको आम्नाय भी कहा गया है। जो लोग उक्त ब्रह्म-सम्प्रदायको स्वीकार नहीं करते, वे लोग भगवानके कहे हुए उक्त पाखण्ड मतके प्रचारक हैं। श्रीकृष्ण चैतन्य-सम्प्रदायको स्वीकार करके भी जो लोग अन्दर-ही-अन्दर गुरु-परम्पराकी सिद्ध प्रणालीको स्वीकार नहीं करते वे कलिके गुप्तचर हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

जैसा भी हो, भाग्यवान् व्यक्ति गुरुपरम्परा-प्राप्त आप्तवाक्य रूप आम्नायको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। यही श्रीचैतन्य महाप्रभुकी प्रथम शिक्षा है।

श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—

"अथैवं सुचितानां श्रीकृष्ण-वाच्य-वाचकता-लक्षण-सम्बन्ध तद्भजन-लक्षण-विधेय-तत्-प्रेमलक्षण-प्रयोजनाख्यानामर्थानां निर्णयाय प्रमाणं तावद्विनिर्णीयते। तत्र पुरुषस्य भ्रमादि-दोष-चतुष्टय-दुष्टत्वात् सुतरामचिन्त्यालौकिक-वस्तु-स्पर्शायोग्यत्वाच्च तत्प्रत्यक्षादीन्यपि सदोषाणि। ततस्तानि न प्रमाणानीत्यनादि-सिद्ध 'सर्वपुरुष-परम्परासु' सर्वलौकिकालौकिक-ज्ञान निदानत्वाद प्रकृत-वचन-लक्षणो वेद एवास्माकं सर्वातीत-सर्वाश्रय-सर्वाचिन्त्याश्चर्य-स्वभावं वस्तु विविदिषतां प्रमाणम्।"

(तत्त्वसन्दर्भ सं. ९ और १०)

श्रीकृष्ण ही वेदोंके प्रतिपाद्य समबन्धतत्त्व हैं, उनका भजन ही वेदोंका अभिधेय-तत्त्व है तथा कृष्णप्रेम ही वेदोंका प्रयोजन तत्त्व

है—इन तीनों तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेके लिए प्रमाण क्या है, इसका यहाँपर निरूपण किया जा रहा है। मनुष्य स्वभावतः भ्रम-प्रमादादि चारों दोषोंके वशवर्ती होते हैं। अतः वे लोग अचिन्त्य अलौकिक पारमार्थिक तत्त्वको स्पर्श करनेके अयोग्य होते हैं। उनके प्रत्यक्षादि प्रमाण भी दोषयुक्त ही होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाण-समूह निर्दोष प्रमाणके अन्तर्गत नहीं माने जाते। अनादि सिद्ध पुरुष-परम्परा-प्राप्त सार्वलौकिक और अलौकिक ज्ञानके मूल स्वरूप अप्राकृत वचन-लक्षण वेदवाक्य ही सर्वातीत, सर्वाश्रय, सर्वाचिन्त्य, आश्चर्य स्वभाव-सम्पन्न वस्तु-विज्ञानको पानेकी इच्छा रखने वाले लोगोंके लिए एकमात्र प्रमाण है।

श्रीजीवगोस्वामीजीने आप्तवाक्यकी प्रामाणिकता निश्चित कर पुराणोंकी भी प्रामाणिकता निश्चित की है। अन्तमें उन्होंने श्रीमद्भागवतको सर्व-प्रमाण-शिरोमणिके रूपमें प्रमाणित किया है। उन्होंने जिस लक्षणके द्वारा श्रीमद्भागवतको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है, उसी लक्षणके द्वारा उन्होंने ब्रह्मा, नारद, व्यास और शुकदेव तदनन्तर क्रमानुसार विजयध्वज, ब्रह्मतीर्थ, व्यासतीर्थ आदिके तत्त्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा प्रमाणित शास्त्रोंको भी प्रामाणिक ग्रन्थोंकी कोटिमें उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्ण-चैतन्यके आश्रित गौड़ीय वैष्णवोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकविकर्णपूर गोस्वामीने इसी मतको दृढ़ करते हुए स्वरचित "गौरगणोद्देशदीपिका" नामक ग्रन्थमें गुरु-प्रणाली-क्रमका वर्णन किया है। वेदान्त-सूत्रके भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी इसी प्रणालीको स्वीकार किया है। जो लोग इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके चरणानुचरोंके प्रधान शत्रु हैं, इसमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं है।

आप्त-वाक्यके विचारके सम्बन्धमें एक विशेष विचार है। सभी आप्तवाक्य स्वतःसिद्ध प्रमाण हैं। उसके लिए लक्षणा अवलम्बन करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। शब्दोंके श्रवणमात्रसे जो अर्थ-बोध होता है, वह शब्दकी अभिधावृत्तिसे हुआ करता है। "अयं शचीनन्दनः साक्षात् नन्दनन्दन एव।" इन शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही प्रतीत होता है कि शचीनन्दन गौरसुन्दर साक्षात् कृष्णचन्द्र हैं। "गङ्गायां घोषः" अर्थात् गङ्गामें घोष पल्ली है—यहाँ पर शब्दोंके अभिधा-क्रमसे जो अर्थ-बोध होता है, उसे ग्रहण न कर लक्षणावृत्तिके द्वारा अर्थ ग्रहण करना चाहिए अर्थात् यहाँ गङ्गाके तटपर घोषपल्ली है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। छान्दोग्य (८/१३/१) में कहा गया है-"श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये।" (श्रीकृष्णकी सर्वशक्तिका नाम 'शबल' है। श्रीकृष्णके आश्रयमें स्वरूप-शक्तिकी ह्लादिनीवृत्तिके सारभावका आश्रय ग्रहण करता हूँ और ह्लादिनीके सारभावके आश्रयमें श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करता हूँ।) अभिधावृत्तिके द्वारा इस वेद-वाक्यका जब न्याय सिद्ध अर्थ पाया जा रहा है, तब शंकराचार्यने लक्षणावृत्तिका अवलम्बन करके "श्याम"-शब्दका जो-"हार्दब्रह्मत्व" अर्थ कल्पना की है, हम उसे क्यों ग्रहण करें? मुक्त पुरुष स्वभावतः श्यामाश्याम युगलकी उपासना करते हैं। यही वेदवाक्योंका सिद्ध अर्थ है। अर्थात् श्यामके सहित ह्लादिनीशक्ति स्वरूपा श्रीमती राधिकाकी उपासना करता हूँ और ह्लादिनीशक्ति सार स्वरूपा श्रीमती राधिकाके सहित कृष्णकी उपासना करता हूँ—उक्त वाक्यका यही संगत अर्थ है। अतएव श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लक्षणावृत्तिके द्वारा स्वतः-प्रमाणताकी हानि होती है—ऐसी उक्ति दृष्टिगोचर होती है। लक्षणा अनेक प्रकारकी होती है। श्रीजगदीशने स्वरचित "शब्दशक्ति प्रकाशिका" नामक ग्रन्थमें लिखा है—

जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थ–निरूढ़ाधुनिकादिकाः।
लक्षणा विविधास्ताभिर्लक्षकं स्यादनेकधा॥

अर्थात् जहत्स्वार्था, अजहत्सवार्था, निरूढ़ा और आधुनिका आदि जितनी प्रकारकी लक्षणा वृत्तियाँ हैं, वे सभी अप्राकृत वस्तुके निर्णयके सम्बन्धमें अनुपयोगी हैं। यदि उक्त लक्षणावृत्तियोंको अप्राकृत वस्तुके निर्णयमें नियुक्त किया जाय, तो वे भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। इधर श्रीशंकराचार्यका कथन है कि अनिर्देश्य तत्त्वके विषयमें अभिधावृत्ति कार्य नहीं करती, इसलिए लक्षणा द्वारा ही 'वेदार्थ निर्णय करना उचित है'। परन्तु श्रीगौड़पूर्णानन्द मध्वाचार्यने इस पर आपत्ति की है—

नाङ्गी कृताभिधा यस्य लक्षणा तस्य नो भवेत्।
नास्ति ग्रामः कुतः सीमा न पुत्रो जनकं बिना॥

(तत्त्वमुक्तावली २२)

शब्द शक्तिके विचारमें यह स्थिरीकृत हुआ है कि जहाँ अभिधावृत्ति अंगीकृत नहीं हुई है, वहाँ लक्षणाका कोई भी स्थल नहीं है। जहाँ कोई ग्राम ही नहीं है, वहाँ सीमाके लिए तर्क क्यों? पिताके बिना पुत्रोत्पत्ति कैसे सम्भव है? यह विचारणीय है कि अनिर्वचनीय वस्तुमें जब अभिधा द्वारा शब्द कार्य नहीं करते, तब अभिधावृत्तिकी आश्रिता लक्षणा वहाँ क्या कर सकती है? इसलिए लक्षणा आदि वृत्तियोंको छोड़कर आप्तवाक्योंकी अभिधा शक्तिका अवलम्बन करके ही अप्राकृतिक वस्तुका अन्वेषण करना बुद्धिमान् व्यक्तिका कार्य है।

यः आदिकवये तेने हृदा ब्रह्म सनातनम्।
स चैतन्यः कलौ साक्षादमार्ज्जीत्तन्मतं शुभम्॥
विप्रलिप्सा प्रमादश्च करणापाटवं भ्रमः।
मनुष्याणां विचारेषु स्याद्धि दोष चतुष्टयम्॥

तदधोक्षज तत्त्वेषु दुर्निवार्यं बुधैरपि।
अपौरुषेय—वाक्यानि प्रमाणं तत्र केवलम्॥
प्रत्यक्षमनुमानञ्च तदधीनतया क्वचित्॥

जिन श्रीचैतन्यदेवने आदि कवि ब्रह्माके हृदयमें सनातन वेद वाक्योंका विस्तार किया था, उन्होंने ही इस कलिकालमें श्रीनवद्वीप धाममें अवतीर्ण होकर उस वेदोदित शुभ मतको कालदोषसे मुक्त करके सुपवि त्र किया है। विप्रलिप्सा, प्रमाद, करणापाटव और भ्रम—ये चार दोष मनुष्यके विचारोंमें अवश्य ही प्रवेश करते हैं। महामहा पण्डितजन भी अतीन्द्रिय तत्त्वका विचार करते समय उक्त चारों दोषोंका त्याग नहीं कर पाते। इसलिए उनका विचार सदोष होता है। इसलिए अतीन्द्रिय विषयमें अपौरुषेय वेदवाक्य ही एकमात्र शुद्ध प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, ऐतिह्य आदि अन्यान्य प्रमाणसमूह शब्द प्रमाण (वेद वाक्य) के अधीन होकर जब कार्य करते हैं, तभी वे कुछ हद तक सहायता कर सकते हैं।

तृतीय–परिच्छेद

कृष्ण ही परम तत्त्व हैं

श्रीचैतन्य–चरितामृतमें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यह आम्नाय वाक्य पाया जाता है—

गौण मुख्यवृत्ति किंवा अन्वय व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहय कृष्णके॥

(श्री चै. च. म. २०/१४६)

—वेदोंमें कहीं मुख्य या अभिधा–वृत्तिके योगसे, कहीं गौण या लक्षणा–वृत्तिके योगसे, कहीं अन्वय या साक्षात् व्याख्या द्वारा और कहीं व्यतिरेक वाक्योंके द्वारा एकमात्र श्रीकृष्णकी ही व्याख्या की गयी है।

स्वयं भगवान कृष्ण, कृष्ण सर्वाश्रय।
परम ईश्वर कृष्ण सर्वशास्त्रे कय॥
अद्वयज्ञान तत्त्ववस्तु, कृष्णेर स्वरूप।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान,–तीन तार रूप॥
वेद भागवत उपनिषद आगम।
पूर्णतत्त्व जारे कहे, नाहिं जार सम॥
भक्ति योगे भक्त पाय जार दरशन।
सूर्य जेन सविग्रह देखे देवगण॥
ज्ञान–योग–मार्गे ताँरे भजे जेइ सब।
ब्रह्म आत्मारूप ताँरे करे अनुभव॥

(चै. च. आ. २/१०६, ६५, २४–२६)

—कृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। वे सबके आश्रय हैं। सभी शास्त्रोंमें कृष्णको ही परम–ईश्वर—सर्व–ईश्वरोंका ईश्वर कहा गया

है। कृष्ण अद्वय-ज्ञान तत्त्व वस्तु हैं; यही उनका स्वरूप है। फिर भी उन अद्वय-ज्ञान वस्तु कृष्णके तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्।

वेद, उपनिषद् और भागवत आदि पुराणों तथा आगमोंमें कृष्णको ही पूर्णतत्त्व कहा गया है। उनमें ऐसा कहा गया है कि न तो उनके समान कोई दूसरा तत्त्व है और न उनसे बढ़कर कुछ है। वे कृष्ण ही स्वयं-भगवान हैं, उनकी अङ्ग-ज्योतिको निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं तथा जगत्के प्रत्येक जीवके अन्तर्यामी एवं साक्षीके रूपमें स्थित भगवानके अंश ही परमात्मा हैं। भगवद्भक्तजन विशुद्ध भक्ति योगका अवलम्बन कर भगवानके सच्चिदानन्द श्रीविग्रहका दर्शन करते हैं। ज्ञानीजनोंकी आँखें भगवानके अङ्गकी ज्योतिसे चकाचौंध हो जानेके कारण भगवानके श्रीविग्रहको देखनेमें असमर्थ होती हैं। जिस प्रकार सूर्यका आकार रहने पर भी साधारण मनुष्य उनके रूपको प्रखर ज्योतिके कारण नहीं देख पाता, परन्तु देवतालोग सूर्यको साकार देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीजन भगवद् विग्रहका दर्शन करनेमें असमर्थ होनेपर भी भगवद्भक्तगण भक्तिके प्रभावसे भगवानके सच्चिदानन्द विग्रहका दर्शन करते हैं। जो लोग ज्ञानमार्गसे परतत्त्वका भजन करते हैं, वे उनको ब्रह्म-रूपमें दर्शन करते हैं। जो लोग योग-मार्गसे उनकी उपासना करते हैं, वे उनको परमात्माके रूपमें अनुभव करते हैं। भगवद्-दर्शन पूर्ण-दर्शन है। ब्रह्म-दर्शन तथा परमात्म-दर्शन खण्ड-दर्शन हैं।

श्वेताश्वतर (५/४) में कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके पूजनीय हैं, वे जन्म-स्वभाव प्राप्त समस्त तत्त्वोंमें ही अधिष्ठान रूपसे नित्य विराजमान हैं। जैसे—

'एको देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः।'

श्रीमद्भागवतमें भी—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

(श्रीमद्भा. १/३/२८)

अर्थात् पहले जिन अवतारोंका वर्णन किया गया है, उनमें कोई–कोई पुरुषावतार कारणार्णवशायी महाविष्णुके अंश हैं और कोई–कोई आवेशावतार हैं; परन्तु ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण स्वयं भगवान् हैं।

गीतामें भी कृष्णको परम तत्त्व कहा गया है—

(क) मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(ख) "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि।

(गीता ७/७ और १५/१५)

हे धनञ्जय! मुझसे बढ़कर कोई भी तत्त्व नहीं है। सभी वेदोंका मैं ही ज्ञातव्य हूँ।

श्रीगोपालोपनिषद्में कहा गया है—

तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्। तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत्। एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य, एकोपि सन् बहुधा यो विभाति। तं पीठस्थं ये तु भजन्ति, धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ (गोपालतापनी २१ मन्त्र)

इसलिए कृष्ण ही परमेश्वर हैं। उन कृष्णका ही ध्यान करो, उनके ही नामका संकीर्तन करो, उनका ही भजन करो और उनका ही पूजन करो। सर्वव्यापी सर्ववशकर्त्ता कृष्ण ही सभीके एकमात्र पूज्य हैं। वे एक होकर भी मत्स्य, कूर्म, वासुदेव, संकर्षण, कारणार्णव–गर्भोदक आदि अनेक रूपोंमें प्रकटित हैं। शुकदेव आदिकी भाँति जो धीर पुरुष उनके पीठस्थित श्रीमूर्तिकी पूजा करते

हैं, वे ही नित्य सुख लाभ कर सकते हैं, इनके अतिरिक्त कोई भी ब्रह्म–परमात्मा आदिकी उपासनासे सुख प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। और भी कहते हैं—

कृष्णांशः परमात्मा वै ब्रह्म तज्ज्योतिरेव च।
परव्योमाधिपस्तस्यैश्वर्य–मूर्त्तिर्न संशयः॥

श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। परमात्मा उनके अंश हैं। ब्रह्म उनकी ज्योति हैं। परव्योमनाथ नारायण उनके ऐश्वर्यविलास–मूर्त्तिविशेष हैं। इस सिद्धान्तमें तनिक भी संशय नहीं है, क्योंकि वेदादि शास्त्रोंमें ऐसा ही निर्धारित किया गया है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायाम्। परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मना विपश्चिता॥ (तै. उ. २/१)

—सत्यस्वरूप, चिन्मय और असीमतत्त्व ही ब्रह्म है। चित्तगुहामें अन्तर्यामी रूपमें अवस्थित तत्त्व ही 'परमात्मा' हैं। परव्योम अर्थात् वैकुण्ठमें विराजमान तत्त्व ही नारायण हैं, जो ऐसा जान लेते हैं, वे "विपश्चित्–ब्रह्म" अर्थात् परब्रह्म श्रीकृष्णके साथ सम्पूर्ण कल्याण गुणको प्राप्त होते हैं।

यहाँ विपश्चित् ब्रह्मतत्त्व ही श्रीकृष्ण हैं। श्रीमद्भागवतमें भी "गूढ़ं परंब्रह्म मनुष्यलिङ्गं, यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।" विष्णुपुराणमें "यत्रावतीर्ण कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृतिं" और गीतामें "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं" इत्यादि हजारों सिद्धान्त वाणियोंमें श्रीकृष्णको विपश्चित् ब्रह्म अर्थात् परंब्रह्म कहा गया है। 'विपश्चित्' शब्दका अर्थ पण्डित होता है। श्रीकृष्णके ६४ गुणोंमें पाण्डित्य एक प्रधान गुण हैं। ६४ गुण इस प्रकार हैं—

अयं नेता सुरम्यांगः सर्वसल्लक्षणान्वितः।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः॥
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्य प्रियम्वदः।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभान्वितः॥
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़व्रतः।
देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी॥
स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गम्भीरोधृतिमान् समः।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणोमान्यमानकृत्॥
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागतपालकः।
सुखी भक्तसुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः॥
प्रतापी कीर्त्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः।
नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान्॥
वरीयानीश्वरश्चेति गुणस्तस्यानुकीर्त्तिताः।
समुद्रा इव पञ्चाशद्द र्विगाहा हरेरमी॥
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दुबिन्दुतया क्वचित्।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे॥
अथ पञ्चगुणा ये स्युरंशेन गिरीशादिषु।
सदा स्वरूपसंप्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः॥
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग सर्वसिद्धिनिषेवितः।
अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्त्तिनः॥
अविचिन्त्य महाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः।
अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः॥
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः।
सर्वाद्भुत-चमत्कार-लीलाकल्लोल वारिधिः॥

अतुल्य–मधुर–प्रेम–मण्डित–प्रियमण्डलः ।
त्रिजगन्मानसाकर्षीमुरलीकलकूजितः ॥
असमानोर्द्ध्वरूपश्रीः विस्मापितचराचरः ॥

(भ. र. सि., द. वि. १ ल. ११/१७)

नायक कृष्णके गुण ये हैं—(१) अति मनोहर अङ्ग, (२) सर्व सुलक्षणोंसे युक्त, (३) सुन्दर, (४) महातेजस्वी, (५) बलवान, (६) किशोर वयसयुक्त, (७) विविध अद्भुत भाषाविद्, (८) सत्यवादी, (९) मृदुभाषी, (१०) वाक्पटु, (११) बुद्धिमान, (१२) सुपण्डित, (१३) प्रतिभाशाली, (१४) विदग्ध अथवा रसिक, (१५) चतुर, (१६) निपुण, (१७) कृतज्ञ, (१८) सुदृढ़ व्रत, (१९) देश–काल–पात्रको पूर्णरूपसे जाननेवाले, (२०) शास्त्र–दृष्टि सम्पन्न, (२१) पवित्र, (२२) जितेन्द्रिय, (२३) स्थिर, (२४) संयमी, (२५) क्षमाशील, (२६) गम्भीर, (२७) धीर, (२८) सम, (२९) वदान्य, (३०) धार्मिक, (३१) शूर, (३२) करुण, (३३) दूसरोंको मान देनेवाले, (३४) दक्षिण अर्थात् अनुकूल, (३५) विनयी, (३६) लज्जायुक्त, (३७) शरणागतपालक, (३८) सुखी, (३९) भक्त–सुहृद, (४०) प्रेमाधीन, (४१) कल्याणकारी, (४२) प्रतापी, (४३) कीर्त्तिशाली, (४४) सर्व–प्रिय, (४५) सज्जन पुरुषोंका पक्ष ग्रहण करनेवाले, (४६) नारी मनोहारी, (४७) सबके आराध्य, (४८) समृद्धिशाली, (४९) श्रेष्ठ, (५०) ईश्वर अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त। ये ५० गुण भगवान् श्रीकृष्णमें समुद्रकी तरह अगाध और असीम रूपमें वर्तमान हैं तथा जीवोंमें ये बिन्दु–बिन्दु रूपमें हैं। श्रीकृष्णके अन्य ५ गुण जो ब्रह्मा शिवादि देवताओंमें वर्तमान हैं, वे ये हैं—(५१) सदा स्वरूपमें स्थिति, (५२) सर्वज्ञ, (५३) नित्य–नवीन, (५४) सच्चिदानन्द घनीभूत–स्वरूप, (५५) सर्व–सिद्धियोंसे सेवित। ये ५५ गुण

देवताओंमें बूँद-बूँद रूपमें हैं।

नारायणमें इन ५५ गुणोंके अतिरिक्त और भी ५ गुण अधिक हैं—(५६) अचिन्त्यशक्तिशाली, (५७) कोटि ब्रह्माण्ड विग्रहत्व, (५८) अवतारोंके बीज या कारण, (५९) हतारिगतिदायक और (६०) आत्माराम जीवोंको भी आकर्षण करनेवाले। ये पाँच गुण ब्रह्मा और शिवादिमें नहीं होते, परन्तु श्रीकृष्णमें अत्यन्त अद्भुत भावसे पूर्णतमरूपमें विद्यमान होते हैं। इन ६० गुणोंके अतिरिक्त श्रीकृष्णमें ४ गुण और भी अधिक होते हैं, जो श्रीकृष्णके अतिरिक्त श्रीनारायण आदि किसीमें भी नहीं पाये जाते—(६१) सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण लीलामाधुरी, (६२) प्रेम माधुरी, (६३) रूप माधुरी और, (६४) वेणुमाधुरी। अतएव स्वरूप-संप्राप्त परब्रह्म अर्थात् विपश्चित् ब्रह्म कहनेसे श्रीकृष्णका ही बोध होता है। उन कृष्णकी यशोराशि ज्योतिके रूपमें सर्वत्र विस्तीर्ण होकर ब्रह्म कहलाती है। इसलिये वेद—सत्य, ज्ञान और अनन्त इन तीन ही गुणोंसे अविपश्चित् ज्योतिर्मय ब्रह्मको लक्ष्य करते हैं। हृदय-गुहामें छिपे हुए तत्त्व ही परमात्मा हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि करके भगवान् अपने अंश द्वारा उसमें अणुरूपमें प्रविष्ट हैं। अतएव ब्रह्माण्डरूप गुहा या जीव-हृदयरूप गुहामें जो प्रविष्ट हैं, वे श्रीकृष्णके अंश अर्थात् परमात्मा हैं। ईश्वर, नियन्ता, जगत्कर्त्ता, जगदीश्वर, पाता, पालयिता आदि उनके हजारों नाम हैं। वे ही जगतमें अवतारके रूपमें राम, नृसिंह और वामन आदि होकर पालन करते हैं "परमे व्योमन्" अर्थात् परव्योम धाममें श्रीकृष्णकी एक विलासमूर्त्ति नित्य विराजमान रहती है, जिसे श्रीनारायण कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व और परव्योमपति भगवत्तत्त्वकी भलीभाँति आलोचना करके जो रसिक पण्डित उन तत्त्वोंके परमाश्रयरूप श्रीकृष्णरूप रसपाण्डित्यपूर्ण

विपश्चित ब्रह्मकी सेवा करते हैं, वे दास्य, वात्सल्य और मधुर रसगत समस्त अप्राकृत कामको उनके साथ नित्य भोग करते हैं। परमात्मा जो कृष्णके अंश हैं—इसे गीतामें स्वयं श्रीकृष्णने कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०/४२)

अर्जुन! और अधिक क्या कहूँ, मैं अपने एक अंशसे परमात्माके रूपमें स्म्पूर्ण जगत्में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ।

पुनः ब्रह्म जो श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति है—इसे ब्रह्मसंहितामें कहा गया है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेष-वसुधादिविभूति-भिन्नम् ।
तद्ब्रह्मनिष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र. सं. ५/४०)

—जिनकी प्रभासे उत्पन्न होकर उपनिषदोक्त निर्विशेष ब्रह्म करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डगत वसुधा आदि विभूतियोंसे पृथक् होकर निष्कल, अनन्त अशेष तत्त्वके रूपमें प्रतीत होते हैं, उन्हीं आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।

इस कारिकामें भी—

देह-देहि-भिदा-नास्ति धर्म-धर्मि-भिदा तथा।
श्रीकृष्ण-स्वरूपे पूर्णेऽद्वयज्ञानात्मके किल॥

श्रीकृष्ण स्वरूप सच्चिदानन्द-विग्रहमें जड़ीय शरीरधारी जीवकी भाँति देह-देहीका तथा धर्म-धर्मीका भेद नहीं होता। अद्वयज्ञान-स्वरूपमें जो देह है—वही देही है, जो धर्म है—वही धर्मी है। श्रीकृष्ण-स्वरूप

एक स्थानमें स्थित मध्यमाकार होनेपर भी सर्वत्र पूर्णरूपसे व्याप्त हैं। वृहदारण्यकमें देखिये—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(५ अध्याय)

—पूर्णरूप अवतारीसे पूर्णरूप अवतार स्वयं प्रादुर्भूत होते है; पूर्ण अवतारीसे लीलाकी पूर्त्तिके लिए पूर्ण अवतार निकलने पर भी अवतारीमें पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है, तनिक भी वह घटना नहीं। पुनः अवतारकी प्रकट लीला समाप्त होनेपर (जब अवतार अवतारीमें मिल जाता है) तब भी अवतारीकी पूर्णतामें वृद्धि नहीं होती। नारद पंचरात्रमें भी ऐसा कहा गया है—

निर्दोष-पूर्णगुण-विग्रहात्मतंत्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेद विवर्जितात्मा॥

—भगवान् निर्दोष और सर्वज्ञ आदि गुणोंसे सम्पन्न विग्रहयुक्त हैं। जड़ शरीर जिस प्रकार चैतन्य-रहित तथा उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, इन तीन प्रकारके धर्मोंसे युक्त होता है, भगवान्‌का शरीर वैसा नहीं होता। भगवान्‌का शरीर चैतन्य विशिष्ट और चिदानन्दमय होता है अर्थात् उनके समस्त अङ्ग-प्रत्यंग आनन्दमात्र हैं। सर्वत्र देह-देही और गुण-गुणी तथा स्वगतभेद रहित परमात्माका स्वरूप है।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-विग्रह हैं, वे परमात्मा एवं ब्रह्मके आश्रय और सर्वेश्वरेश्वर हैं—यहाँ यह दिखलाया गया। अब वेद जिस प्रकार उनको ही मुख्य और गौण वृत्ति द्वारा तथा अन्वय और व्यतिरेक भावोंसे लक्ष्य करते हैं—उसका विचार करना आवश्यक है। मुख्य या अभिधा वृत्ति द्वारा छान्दोग्य उपनिषदमें श्रीकृष्णका ही वर्णन करते हैं—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये। शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये॥

(८/१३/१)

—श्रीकृष्णकी विचित्र स्वरूपशक्तिका नाम शबल है। कृष्णके शरणागत होकर उस शक्तिके ह्लादिनी-सार भावका आश्रय करें। ह्लादिनीके सार भावका आश्रय कर पुनः श्रीकृष्णके प्रति प्रपन्न (शरणागत) हों। यहाँ श्याम-शब्दकी अभिधावृत्ति द्वारा श्रीकृष्णका ही वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद-संहितामें भी आरुणेयुपनिषद् ५वें मन्त्रमें कहा गया है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततं विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

(१/२२/२३ ऋक्)

—पण्डितजन नित्य-विष्णुके परम पदका दर्शन करते हैं। वह विष्णुपद चिन्मय नेत्रोंसे दिखलायी पड़नेवाला श्रीकृष्णरूप परमतत्त्व है।

पुनः ऋग्वेदमें कहते हैं—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति-भूवनेष्वन्तः॥

(ऋग्वेद १/२२/१६४ सूक्त ३१ ऋक्)

मैंने देखा—एक गोपाल, उनका कभी पतन नहीं है, कभी निकट और कभी दूर—नाना पथोंमें विचरण कर रहे हैं। वे कभी नाना प्रकारके वस्त्रोंसे आच्छादित हैं। वे इसी रूपमें विश्व संसारमें पुनः पुनः आया जाया करते हैं। इस वेद वाक्यद्वारा श्रीकृष्णकी नित्यलीलाका अभिधावृत्ति द्वारा वर्णन किया गया है। अन्यत्र कहते हैं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥

(१/५४ सूक्त ६ ऋक्)

ऋक्-मन्त्रमें भगवान्की नित्य लीलाका वर्णन इस प्रकार किया गया है—तुम्हारे (राधा और कृष्णके) उन गृहोंको प्राप्त होनेकी अभिलाषा करता हूँ, जहाँ कामधेनुएँ प्रशस्त शृङ्गविशिष्ट हैं और मनोवाञ्छित अर्थको प्रदान करनेमें समर्थ हैं—भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्णका वह परमपद प्रचुर रूपमें प्रकाशित हो रहा है।

इस वेद मन्त्रमें गोकुलवीर श्रीकृष्णका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। ऐसे-ऐसे मुख्य वर्णनके स्थल वेदोंमें अनेक हैं।

गौण या लक्षणावृति द्वारा वर्णन—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वम्।

(श्वेताश्वतर ३/६)

—जिससे दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है और जिससे न तो कुछ अणु है और न बृहद् ही है, उस एक पुरुष द्वारा ही सब कुछ पूर्ण है, वह स्थिर होकर भी वृक्षकी भाँति ज्योतिर्मय मण्डलमें अवस्थित है। कठोपनिषद् (२/२/६) में कहते हैं—

अग्नि यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

—जिस प्रकार एक ही अग्नि जगतमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न भूताग्निके रूपमें प्रतिबिम्बित होती है, उसी प्रकार एक ही सर्वभूतान्तरात्मा जगतमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माके रूपमें प्रतिबिम्बित होता हे। जो बिम्बके सदृश होकर भी उसके अधीन होता है, उसको प्रतिबिम्ब कहते हैं। जीवात्माएँ बिम्बस्थानीय परमात्माका प्रतिबिम्ब

होनेके कारण तत्सदृश ही होती हैं, यह बात सत्य है; परन्तु वे कभी बिम्ब स्वरूप अर्थात् परमात्मा नहीं होतीं। बल्कि बिम्बस्वरूप परमात्माके बहिर्भागमें ही अवस्थित होती हैं। वे सूर्यमण्डल स्थानीय परमात्माकी बहिश्चर किरण-परमाणुओंकी भाँति हैं।

ईशावास्य कहते हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(१५ मन्त्र और वृहदा. ५/१५/१ ब्राह्मण)

—शुद्धभक्तिके बिना श्रीभगवानका दर्शन नहीं होता। श्रीभगवानकी कृपा बिना शुद्धभक्ति नहीं होती। इसलिए कहते हैं—निर्विशेष-ब्रह्मरूप ज्योतिर्मय आच्छादन द्वारा सत्यरूप परब्रह्मका मुखोपलक्षित श्रीविग्रह आच्छादित है। हे जगतपोषक परमात्मन्! सत्यधर्मानुष्ठान परायण मुझ जैसे भक्तोंके साक्षात्कारके लिए आप उस आवरणको दूर करें।

वृहदारण्यकमें कहते हैं—

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु
अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः
सर्वेषां भूतानां राजा इत्यादि॥

(२/५/१४-१५)

श्रीकृष्णको लक्ष्य करके गुण-परिचय द्वारा गौण रूपसे वेद कहते हैं कि आत्मारूप कृष्ण ही सम्पूर्ण भूतोंके मधु हैं, अधिपति हैं और राजा हैं। 'आत्मा' शब्दसे कृष्णका बोध होता है—ऐसा श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं जगदात्मनाम्। (१०/१४/५५)

हे राजन्! आप कृष्णको समस्त आत्माओंकी आत्मा जानो। अन्वयके रूपमें छान्दोग्यमें कहते हैं—

तच्चेदब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म। स ब्रूयान्नस्य जरयैतज्जीर्यति इति। एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः। स यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते इत्यादि। श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये इत्यादि॥

(८/१/१, ५, ८/२/५ और ८/१३/१ मन्त्र)

इस वेदवाक्यका साक्षात् अर्थ यह है कि ब्रह्मपुरमें पद्मपुष्पके समान एक अप्राकृत धाम है। ब्रह्म-संहितामें इस धामका इस प्रकार वर्णन है—

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत् पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवम्॥ (५/२)

वे परबह्मधाम या गोकुल अमृतके आश्रय हैं। वे अनन्तके अंशसे नित्य प्रकटित हैं। वहाँ जन्म-मरण आदि नहीं है। जो सब चित्कण जीव वहाँ हैं अथवा वहाँ जाते हैं, वे पाप-पुण्यरहित, विजर, विमृत्यु, विशोक, क्षुधा-रहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प होते हैं। उनमेंसे सख्य आदि जिस रसमें आनन्द होता है, वे उसी रसका वहाँ आस्वादन करते हैं और ह्लादिनी महाभावयुक्त श्यामसुन्दरकी नित्य उपासना करते हैं।

वेदमें यहाँ अन्वयरूपमें या साक्षात् वर्णन द्वारा श्रीकृष्णके नित्यधाम और उनकी लीलाका प्रकाश किया है।

व्यतिरेक भावसे वेद अनेक स्थलोंपर श्रीकृष्णको लक्ष्य करते हैं—

कठमें—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (२/२/१५)

—उस स्वप्रकाश ब्रह्मको सूर्य, चन्द्र, तारागण और विद्युत प्रकाशित नहीं कर सकती; फिर अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि प्राकृत जगत्‌में जो कुछ भी प्रकाशशील तत्त्व हैं, सभी उस स्वप्रकाश भगवानसे ही प्रकाशित होते हैं। उन भगवानके प्रकाशसे ही समस्त जगत् प्रकाशित होता है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय॥
सर्वतः पाणि-पादन्तत् सर्वतोक्षि—शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमाल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(श्वेताश्वतर ३/८, १६)

—इस महापुरुषको प्रकृतिसे अतीत स्वतः प्रकाश तत्त्व जानता हूँ। उनको जान लेनेपर जीव मृत्युको पार कर जाते हैं। इसके अतिरिक्त मृत्युको पार करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। उनके हस्त और पद सर्वत्र व्याप्त हैं। उनकी आँखें, शिर, मुख और कान सर्वव्यापक हैं। वे सबको आवृत कर स्थित हैं अर्थात् सभीमें व्याप्त हैं।

श्वेताश्वतरमें—

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदूरमृतास्ते भवन्ति॥

(४/२०)

—इनका रूप प्राकृत इन्द्रियोंकी पकड़में नहीं आ सकता। भौतिक आँखोंसे उनको कोई भी देख नहीं सकता है। जो इस हृदयमें स्थित पुरुषको विशुद्ध चित्तसे ध्यान द्वारा जान लेते हैं, वे

ही मुक्ति लाभ कर सकते हैं।

वेदोंमें अनेक स्थानों पर इसी प्रकारसे गौण और व्यतिरेक रूपमें श्रीकृष्णका वर्णन है। केवल चित्‌शक्तिके प्रकाशके समय मुख्य और अन्वयरूपमें वर्णन देखा जाता है।

श्रीमद्भागवतके श्रुति-स्तव-प्रसंगमें ऐसा वर्णन पाया जाता है—

जय जय जह्यजामजित दोष-गृभीत-गुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध-समस्तभगः।
अग-जगदोकसामखिल-शक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥

(भा. १०/८७/१४)

—हे कृष्ण! जिनका गुण-समूह भी दोष ही माना जाता है, उस माया-शक्ति नामक अजा (बकरी) का आप विनाश करें। आप आत्म-शक्ति द्वारा सर्वदा समस्त ऐश्वर्योंके अधिपति हैं। आप स्थावर-जंगम सबकी शक्तियोंको जगानेवाले हैं। वेदोंने आपका दो प्रकारसे वर्णन किया है, अर्थात् जिस समय आप मायाशक्तिको परिचालित करते हैं, तब एक प्रकारसे वर्णन करते हैं तथा जिस समय आप आत्मशक्ति अर्थात् चित्-शक्तिका अवलम्बन करके ब्रजलीला करते हैं, तब दूसरे प्रकारसे वर्णन करते हैं। कारिका :—

ब्रह्म-रुद्र-महेन्द्रादि दमने रासमण्डले।
गुरुपुत्रप्रदानादावैश्वर्यं यत्प्रकाशितम्॥
नान्य-प्रकाश-बाहुल्ये तादृष्टं शास्त्रवर्णने
अतः कृष्णपारतम्यं स्वतःसिद्धं सतां मते॥

श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें श्रीकृष्णलीलाके वर्णनमें, ब्रह्म-रुद्र-इन्द्रादिके दमनके समय, रासलीलामें तथा गुरुपुत्रको लौटा लानेके कार्यमें जैसे ऐश्वर्यका प्रकाश हुआ है, वैसा प्रकाश अन्यत्र

अनेक प्रकाशोंमें भी कहीं नहीं देखा जाता। अतएव साधुजन ऐसा कहते हैं कि कृष्णका पारतम्य (सर्वेश्वरेश्वरत्व) स्वतःसिद्ध है। अतएव श्वेताश्वतरमें कहते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।
तं दैवतानां परमञ्च दैवतम्॥
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्।
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ (६/७)

—तुम ब्रह्मा और रुद्र आदि ईश्वरोंके भी ईश्वर—परम महेश्वर हो। तुम इन्द्रादि देवगणोंके भी परम देवता हो। तुम प्रजापतियोंके भी पति (पालक) हो। तुम श्रेष्ठ तत्त्वसे भी श्रेष्ठतत्त्व हो। हम आपको जगत्वन्द्य लीला-परायण परमेश्वर मानते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद
श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं

प्राचीन कालसे ही शक्ति और शक्तिमानके विषयमें आलोचना होती आ रही है। कुछ लोगोंका ऐसा कथन है कि संसारमें जितने प्रकारके अनुभव हैं—वे सब शक्तिके अनुभव हैं। शक्तिके अतिरिक्त शक्तिमान नामकी कोई सत्ता है या नहीं—यह सन्देहकी बात है। शक्ति ही वस्तुको प्रकाश करती है अथवा उसका परिचय प्रदान करती है। अतएव वस्तुकी तनिक भी अनुभूति नहीं होती, केवल वस्तुशक्तिकी ही अनुभूति होती है। वे इस कथनकी पुष्टिमें जो उदाहरण देते हैं, वह यहाँ दिया जा रहा है—"पृथ्वीपर आकृति और विस्तृति आदि कुछ धर्म हैं। हमलोग जिसे पृथ्वी कहते हैं, वह केवल इन गुणोंकी समष्टि मात्र है। यदि ये गुण पृथक् हो जाँय, तो पृथ्वी नामकी कोई वस्तु रहेगी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। गुण और धर्म—सभी शक्ति हैं। अतएव शक्ति ही एकमात्र तत्त्व है।" कुछ लोग ऐसा भी तर्क देते हैं कि—"शक्ति कुछ नहीं है, वह तो वस्तुका अपृथक् एक धर्ममात्र है। वस्तु जिसे प्रकाश करता है, उसे ही शक्ति कहते हैं।" इस प्रकारके वितर्कोंमें सारग्राही महापुरुषोंने यह कहा है कि शक्ति एक तत्त्व है तथा शक्तिमान दुसरा तत्त्व है। ये दोनों तत्त्व पृथक् होकर भी अपृथक् हैं। मनुष्यकी चिन्ता सर्वदा सीमित होती है; अतएव वह शक्ति और शक्तिमानके परस्पर अत्यन्त गूढ़ सम्बन्धकी उपलब्धि नहीं कर पाती। वास्तवमें पृथक् होने पर भी वस्तु और वस्तु-शक्ति अपृथक् हैं। दोनोंमें पार्थक्य और अपार्थक्य युगपत् सिद्ध है। इसलिए वस्तु और वस्तु-शक्तिका परस्पर अचिन्त्य-भेदाभेदात्मक स्वभाव है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें ऐसा कहा गया है—

राधा–पूर्णशक्ति, कृष्ण—पूर्णशक्तिमान्।
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्र–परमाण॥
मृगमद, तार गन्ध जैछे अविच्छेद।
अग्नि, ज्वालाते जैछे कभु नाहि भेद॥
राधाकृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप।
लीलारस आस्वादिते धरे दूइ रूप॥

(आ. ४/९६–९८)

—श्रीमती राधिका पूर्ण शक्ति हैं; कृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं। इनमें कोई भेद नहीं है—इस विषयमें शास्त्र प्रमाण हैं। जैसे कस्तूरी और उसकी सुगन्ध अविच्छेद्य हैं तथा अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति अभिन्न है, वैसे ही राधाकृष्ण एक अभिन्न स्वरूप हैं। लीला रसका आस्वादन करनेके लिए दो रूपोंमें प्रकाशित हैं।

वेद और वेदान्तमें भी यही सिद्धान्त देखा जाता है। शास्त्रोंमें यह डंकेकी चोटसे कहा गया है—"शक्ति–शक्तिमतोरभेदः।"

वस्तु–तत्त्वके विचारसे कृष्णके अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इसलिए शास्त्रमें श्रीकृष्णको अद्वयतत्त्व कहा गया है। परन्तु ब्रह्मवादी एवं परमात्मवादी श्रीकृष्णको परम तत्त्व निर्देश करनेका साहस नहीं कर पाते। यद्यपि वस्तु एक है, फिर भी उसे देखने वाले विभिन्न अधिकारियोंके भेदसे वह एक ही वस्तु विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होती है। उदाहरणस्वरूप एक पर्वतको तीन ओरसे तीन व्यक्ति देखते हैं; पर्वतके उत्तर भागमें कुहरा पड़ रहा है; जो व्यक्ति उस ओरसे देख रहा है, वह कुहरेसे ढके हुए बड़े–बड़े शिला–खण्डोंको ही पर्वत कहेगा। पर्वतके दक्षिण भागमें प्रचण्ड रूपसे सूर्य किरणें पड़ रही हैं, उस ओरसे देखनेवाला व्यक्ति पर्वतको ज्योतिर्मय शैलप्राचीरके रूपमें देखेगा। पर्वतकी जिस दिशामें किसी प्रकारकी

उपाधि नहीं है, उस दिशासे देखनेवाला व्यक्ति पर्वतके सर्वांगको पूर्णरूपसे देखकर पर्वतका यथार्थ स्वरूप निर्णय करेगा। इसी प्रकार पण्डितगण अपने-अपने दृष्टिकोणके भेदसे अद्वयवस्तुका अलग-अलग रूपमें दर्शन करते हैं और उसीके अनुरूप उसका अलग-अलग रूपमें निर्देश भी करते हैं। जो लोग केवल ज्ञानका अनुशीलन करते हैं, वे जड़ीय-सत्ताके विपरीत भावको ही एक निर्विशेष, निराकार, निःशक्तिक एवं निष्क्रिय ब्रह्म मान लेते हैं। परन्तु इससे वस्तुका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। जो लोग बुद्धियोग द्वारा वस्तुका अन्वेषण करते हैं, वे अपनी आत्माके अविरोधी स्वरूप-विशेष, आत्माके साथी परमात्माका दर्शन करते हैं और जो लोग उपाधिरहित निर्मल भक्तियोगसे वस्तुका दर्शन करते हैं, वे उस अद्वयवस्तुका साक्षात्कार लाभकर सर्वैश्वर्यपूर्ण, सर्वमाधुर्यपूर्ण, सर्वशक्तिमान एक पृथक्भूत परमतत्त्व रूप भगवानका दर्शन करते हैं। कठोपनिषदमें कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना-श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

(१/२/२३)

अर्थात् उन परमात्माको वेदादि शास्त्रोंके अध्ययन द्वारा पाया नहीं जा सकता है, धारणाशक्ति या अनेक शास्त्रोंके श्रवण द्वारा भी उनको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो लोग उनको ही अपना एकमात्र प्रभु मान लेते हैं, केवल उन्हींके निकट ही वे अपना अप्राकृत स्वरूप प्रकाश करते हैं। ऐसे व्यक्ति ही उनको प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी ठीक ऐसा ही कहा गया है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसाद-लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्यं एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/२८)

हे देव! जो लोग आपके चरण-युगलका लेशमात्र भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेते हैं, केवल वे ही आपकी महिमा जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो दीर्घ समय तक अनुमानके द्वारा शास्त्र-विचारपूर्वक आपको खोज रहे हैं, उनमेंसे कोई भी आपके तत्त्वको जान नहीं पाते।

ब्रह्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन सोपाधिक हैं अर्थात् मायिक उपाधिके विपरीत भावसे ब्रह्मदर्शन होता है तथा मायिक उपाधिके अन्वयभावसे परमात्म-दर्शन होता है। परन्तु निरुपाधिक चिन्मय-नेत्रोंसे ही चिन्मय-भगवत्-स्वरूपका दर्शन होता है। भगवत्-स्वरूप ही वस्तु है तथा भगवत्-शक्ति ही शक्ति तत्त्व है। शक्तिसे अलग कर भगवानका दर्शन करनेसे निर्विशेष ब्रह्मका दर्शन होता है। अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कोई-कोई ब्रह्म-दर्शनको ही चरम दर्शन मानते हैं। वास्तवमें निःशक्तिक निर्विशेष भगवद् भाव ही ब्रह्म है तथा शक्तिमान् सविशेष ब्रह्म ही भगवान् हैं। अतएव भगवान् ही स्वरूप तत्त्व हैं और ब्रह्म केवल उनके स्वरूपके निर्विशेष आविर्भाव-ज्योति मात्र हैं। परमात्मा भी भगवान्‌के अंशमात्र हैं जो जगतमें प्रविष्ट हैं। भगवान् ब्रह्मके रूपमें प्रतिफलित होकर भी अपने सविशेष अचिन्त्य-स्वरूपमें जगत् और जीवसे पृथक् रूपमें नित्य विराजमान हैं। इसलिए भागवतमें कहते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(भा. १/२/११)

—परतत्त्व-दर्शी महात्मागण परतत्त्वको एक अद्वय-ज्ञान वस्तु कहते हैं। उसी तत्त्व-वस्तुकी प्रथम प्रतीति ब्रह्म हैं, द्वितीय प्रतीति परमात्मा हैं और तृतीय प्रतीति भगवान हैं।

अद्वयज्ञान-तत्त्व-वस्तुकी शुष्क और निःशक्तिक-प्रतीति ही "ब्रह्म"

हैं। जड़के भीतर सूक्ष्म रूपमें प्रविष्ट आत्ममय प्रतीति ही 'परमात्मा' हैं। अद्वयज्ञानकी पूर्ण सविशेष प्रतीति ही 'भगवान्' हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि भगवत् प्रतीति भी दो प्रकारकी है—ऐश्वर्य-प्रधान प्रतीति और माधुर्य-प्रधान प्रतीति। ऐश्वर्य-प्रधान भगवत् प्रतीतिका नाम—श्रीपति नारायण है तथा माधुर्य-प्रधान भगवत् प्रतीतिका नाम—श्रीराधानाथ श्रीकृष्ण है। अतएव कविराज गोस्वामीका यह पद्य—**"राधा पूर्ण शक्ति, कृष्ण पूर्ण शक्तिमान"** पूर्ण रूपसे सार्थक है।

ब्रह्म और परमात्माको अङ्गीभूत कर तथा नारायणके भी समस्त ऐश्वर्यको अपने माधुर्य द्वारा आच्छादन किये हुए चित् शक्ति सम्पन्न श्रीकृष्ण ही एकमात्र अद्वय वस्तु हैं। श्वेताश्वतर उननिषद्में भी ऐसा वर्णन किया गया है—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते।
न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते॥
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥

(श्वे. ६/८)

उन श्रीकृष्णका प्राकृत इन्द्रियोंकी सहायतासे कोई कार्य नहीं है; क्योंकि उनकी न तो प्राकृत इन्द्रियाँ हैं न प्राकृत शरीर ही। उनका श्रीविग्रह (शरीर) सम्पूर्ण रूपसे चित्-स्वरूप है। इसलिए जड़ शरीर जिस प्रकार सीमित सौन्दर्यके साथ एक ही समयमें सर्वत्र नहीं रह सकता है, श्रीकृष्ण-शरीर वैसा नहीं है। वह नित्य नवीन अतुलनीय सौन्दर्य-मण्डित एवं एक ही समय सर्वत्र रहनेवाला होता है। इसके अतिरिक्त वह सर्वत्र रहकर भी अपने चिन्मय-वृन्दावनमें नित्य लीलाविशिष्ट होता है। ऐसा होकर भी वे परात्पर वस्तु हैं। दूसरा कोई भी स्वरूप उनके समान या उनसे बढ़कर नहीं हो सकता है;

क्योंकि वे अविचिन्त्य शक्तिके आधार हैं। अविचिन्त्यका तात्पर्य—जीवबुद्धिके द्वारा सामञ्जस्य न होना है। इसी अविचिन्त्य शक्तिका नाम—पराशक्ति है। यह स्वाभाविकी शक्ति एक होकर भी तीन रूपोंमें प्रकाशित है—(१) ज्ञान (सम्वित्), (२) बल (सन्धिनी) और क्रिया (ह्लादिनी)। चैतन्यचरितामृतमें भी कहा गया है—

कृष्णेर स्वरूप, आर शक्तित्रयज्ञान।
जार हय, तार नाहि कृष्णेते अज्ञान॥
चिच्छक्ति-स्वरूप-शक्ति अन्तरङ्गा नाम।
ताहार वैभवानन्त वैकुण्ठादि धाम॥
मायाशक्ति बहिरङ्गा जगत्कारण।
ताहार वैभवानन्त ब्रह्माण्डेर गण॥
जीवशक्ति तटस्थाख्य नाहि जार अन्त।
मुख्य तीन शक्ति तार विभेद अनन्त॥
एइ त स्वरूप गण आर तिन शक्ति।
सबार आश्रय कृष्ण, कृष्णे सबार स्थिति॥

(आ. १/९६, १०१-१०४)

—जिनको कृष्ण-स्वरूप और उनकी तीन शक्तियोंका ज्ञान हो जाता है, उनको कृष्णके विषयमें किसी प्रकारका अज्ञान संभव नहीं है। चित्शक्तिको स्वरूपशक्ति या अन्तरङ्गा-शक्ति कहते हैं। उसके वैभव वैकुण्ठ आदि चिन्मय धाम हैं। माया शक्तिको बहिरङ्गा शक्ति कहते हैं, उससे जड़ जगत् प्रकटित हुआ है। उसके वैभव अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। जीवशक्तिको तटस्था शक्ति भी कहा जाता है; उससे अनन्त जीवसमूह प्रकटित हैं। इन तीनों शक्तियोंके आश्रय कृष्ण हैं और सबसे ऊपर उनकी स्थिति है।

अन्यत्र श्रीचैतन्य महाप्रभुकी वाणीमें भी देखिए—

कृष्णेर स्वाभाविक तीन शक्ति–परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति आर माया शक्ति॥

(चै. च. म. १०/१११)

इस कारिकामें भी यह स्पष्ट है—

शक्तिः स्वाभाविकी कृष्णे त्रिधा चेत्युपपद्यते।
सन्धिनी तु बलं सम्विज्ज्ञानं ह्लादकरी क्रिया॥
शक्ति–शक्तिमतो भेदो नास्तीति सारसंग्रहः।
तथापि भेदवैचित्र्यमचिन्त्यशक्तिकार्यतः॥
सन्धिन्या सर्वमेवैतत् नामरूपगुणादिकम्।
चिन्मायाभेदतोभेदो विश्ववैकुण्ठयोः किल॥
सम्विदा द्विविधं ज्ञानं चिन्मायाभेदतः क्रमात्।
चिन्मायाभेदतः सिद्धं ह्लादिन्या द्विविधं सुखम्॥
ह्लादिनी श्रीस्वरूपा या सैव कृष्ण–प्रियंकरी।
महाभाव–स्वरूपा सा ह्लादिनी वार्षभानवी॥

—शास्त्रोंमें कृष्णकी तीन प्रकारकी स्वाभाविक शक्तियोंका उल्लेख है। वे तीन शक्तियाँ हैं—'बल' (सन्धिनी), ज्ञान (सम्वित्) और क्रिया (ह्लादिनी) शक्ति। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं—समस्त शास्त्रोंका यही एक मत है। तथापि अचिन्त्य शक्तिकी क्रियासे उनमें भेद–वैचित्र्य परिलक्षित होता है। नाम–रूप–गुण आदि व्यापार सन्धिनी शक्तिके कार्य हैं। चित्के अन्तर्गत सन्धिनी और मायाके अन्तर्गत सन्धिनीमें अन्तर है। पहलीसे वैकुण्ठकी सत्ता प्रकट हुई है। उसी प्रकार चिद्गत सम्वित् और मायागत सम्वित्के भेदसे ज्ञान भी दो प्रकारका होता है। उसी प्रकार चिद्गत ह्लादिनी और मायागत ह्लादिनीके भेदसे ह्लादिनी शक्ति द्वारा उत्पन्न सुख भी दो प्रकारके होते

हैं। पहलीसे चित् सुख होता है, दूसरीसे मायिक सुख प्राप्त होता है। ह्लादिनी शक्ति कृष्णकी प्रियतमा दासी श्रीस्वरूपिणी हैं। वे महाभाव स्वरूपा वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी हैं।

श्रीकृष्णमें एक पराशक्ति नामक स्वाभाविकी शक्ति है। वह विचित्र विलासमयी और विचित्र आनन्द सम्बर्द्धिनी है। उस शक्तिके अनन्त प्रभाव होनेपर भी जीवके निकट उनमेंसे केवलमात्र तीनका परिचय है। इन तीन प्रभावोंके नाम हैं—चित्‌शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति। वेदके अनेक स्थलोंमें इस पराशक्तिके तीनों प्रभावोंका वर्णन मिलता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्त वेद किमृचा करिष्यति यः
इत्तद्विदु स्त इमे समासते॥ (श्वे. ४/८)

ऋग्वेदमें जिस अक्षर-परव्योमका वर्णन है—जिसमें समस्त देवतागण निवास करते हैं, उसके तत्त्वको जो नहीं जानते, वे ऋक् द्वारा क्या करेंगे? जो उस तत्त्वको जानते हैं, वे ही कृतार्थ हुआ करते हैं।

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता पुराणे वैष्णवे तु या।
सा चैवात्रात्मशक्तित्वे वर्णिता तत्त्वनिर्णये॥

—विष्णुपुराणमें विष्णुकी पराशक्तिके विषयमें उल्लेख है। तत्त्व निर्णयके प्रसंगमें उसी शक्तिको भगवानकी स्वरूपशक्ति कहा गया है।

ते ध्यान-योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेताश्वर १/३ मन्त्र)

एक शक्तिमान् देव काल और जीवके साथ स्वाभाविक कारणोंको नियमित कर प्रकाश पा रहे हैं। ब्रह्मको जाननेवाले महात्माओंने उस स्वरूपभूता और अपने प्रभाव द्वारा संवृता शक्तिका ही ध्यानयोगसे निखिल कारणके रूपमें दर्शन किया था।

मायाशक्तिके विषयमें कारिका—

अविद्याकर्मसंज्ञा या वैष्णवेह्यनुवर्ण्यते।
मायाख्यया च सा प्रोक्ता ह्याम्नायार्थविनिर्णये॥

विष्णु पुराणमें जिस "अविद्या कर्म संज्ञा" नामक शक्तिका उल्लेख है, वेदार्थ-तात्पर्य-निर्णयमें, उसको ही 'माया' शक्ति कहा गया है।

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्य यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥ (श्वे. उ. ४/८)

अग्निष्टोम और अश्वमेध आदि यज्ञ, चान्द्रायण आदि व्रत, भूत और भविष्य आदि सबकुछ जिनका वर्णन वेद करते हैं, मायाधीश पुरुष उन सबका सृजन करते हैं। इस विश्वमें दूसरे जीव (भगवद्-विमुख) माया द्वारा बँधकर संसारमें भ्रमण करते रहते हैं।

क्षेत्रज्ञाख्या च या शक्तिः सा तटस्था निरूपिता।
जीवशक्तिरिति प्रोक्ता यया जीवाश्चनेकधा॥

विष्णु पुराणमें (६/७/६१) जिस "क्षेत्रज्ञा" नामक शक्तिका वर्णन है, उसको ही 'तटस्था' कहा गया है। उसको 'जीव-शक्ति' भी कहते हैं। उस शक्तिसे अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति हुई है।

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्त-भोगामजोऽन्यः॥ (श्वे. ४/५)

सत्त्व, रजः और तमोगुणात्मिका, अनेक प्रकार प्रजाओंकी जननीस्वरूपा, समानरूपा, एक अजा नामक प्रकृतिको अन्य एक, अज पुरुष (जीव) सेवा करते-करते भजन करते हैं। दूसरे अज पुरुष (परमात्मा) भुक्तभोगा उस प्रकृतिको त्याग करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ९/८, १९ और ७/४, ५)

अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका (मायाका) आश्रय लेकर इस भूत-समुदायकी पुनः पुनः सृष्टि किया करता हूँ। इससे मेरा स्वरूप विकृत नहीं होता। हे अर्जुन! मेरी शक्ति मेरी अध्यक्षतामें ही कार्य करती है। मैं अपनी इच्छा द्वारा प्रकृतिके प्रति कटाक्ष करता हूँ। इन कार्योंमें मेरी अध्यक्षता है। उसी कटाक्ष द्वारा चालित होकर प्रकृति ही चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इसलिए यह जगत् बार-बार प्रादुर्भूत होता है। अर्जुन! मेरी अपरा प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ भागोंमें विभक्त है। मेरी इस अपरा प्रकृतिके अतिरिक्त एक और भी दूसरी परा

प्रकृति शक्तिसे अनन्त जीवगण उत्पन्न होकर जगतको भोग्यरूपमें ग्रहण किये हुए हैं।

उक्त तीन शक्ति-प्रभावों द्वारा चिज्जगत्, जैव-जगत् और जड़जगत् प्रादुर्भूत हुए हैं। उनमेंसे प्रत्येक प्रभावमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनीरूपा तीन वृत्तियाँ लक्षित होती हैं। चित्शक्तिमें जो सन्धिनी-वृत्ति होती है, उसके कार्यरूपमें चिद्धाम, चिदवयव और चिदुपकरण आदि सब प्रकारके चिद्वैभव उदित हुए हैं। कृष्णनाम, कृष्णरूप, कृष्णगुण और कृष्णलीला यह सब कुछ सन्धिनीका कार्य है। चित्शक्तिगत सम्विद् वृत्तिके कार्यस्वरूप समस्त चिन्मय-भावोंका उदय है। चित्शक्तिकी ह्लादिनीवृत्तिके कार्यस्वरूप समस्त प्रेमानन्दानुशीलन होता है। जीवशक्तिमें जो सन्धिनीवृत्ति है, उसके कार्यस्वरूप जीवोंकी चिन्मय-सत्ता, नाम और स्थान आदिका उदय हुआ है। उसमें जो सम्वित्वृत्ति होती है, उसके कार्यस्वरूप ब्रह्मज्ञानका उदय होता है तथा उसमें जो ह्लादिनीवृत्ति होती है, उसके कार्यस्वरूप ब्रह्मानन्द क्रियान्वित होता है। अष्टाङ्गयोगगत समाधि सुख या कैवल्यसुख भी उसीका कार्य है। मायाशक्तिगत सन्धिनीके कार्यस्वरूप चतुर्दश-लोकमय, सम्पूर्ण जड़विश्व, बद्ध जीवोंके स्थूल-लिङ्ग शरीर, बद्धजीवोंके स्वर्गादि लोक तथा उन लोकोंकी गतियाँ और सम्पूर्ण जड़-इन्द्रियाँ—ये सब प्रकटित हैं। बद्धजीवोंके जड़ीय नाम, उनके जड़ीय रूप, जड़ीय गुण तथा जड़ीय कार्य भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं। मायामें जो सम्वित्वृत्ति होती है, उससे जड़-बद्ध जीवोंकी चिन्ता, आशा, कल्पना और विचार-समूह उदित हुए हैं। मायामें जो ह्लादिनीवृत्ति होती है, उससे स्थूल-जड़ीय आनन्द तथा स्वर्ग आदिका सूक्ष्म जड़ानन्द—ये दोनों प्रकारके आनन्द उदित हुए हैं।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये तीनों वृत्तियाँ चित्शक्तिमें निर्मल और निरुपाधिक रूपमें पूर्णताके साथ नित्य क्रियाशील रहती हैं। जीवशक्तिमें वे परमाणुरूपमें अतिशय अल्प परिमाणमें प्रकाशित होती हैं तथा मायाशक्तिमें विकृत रूपमें इन तीनों वृत्तियोंका आभास मात्र दिखलायी पड़ता है। जीवके लिए मायाकी वृत्तियाँ अतिशय हेय हैं। जीवशक्तिकी अपनी वृत्तियाँ हेय तो नहीं, परन्तु अप्रचुर हैं। चिद्शक्तिगत ह्लादिनीके संयोगके बिना जीव पूर्णानन्द लाभ नहीं कर सकता है। यह संयोग केवल कृष्ण-कृपा और कृष्णके कृपापात्रोंकी कृपा बिना कभी संभव नहीं है।

यहाँ इस विषयमें कतिपय कारिकाएँ उद्धृत की जा रही हैं।

विरोध-भञ्जिका-शक्तियुक्तस्य सच्चिदात्मनः।
वर्तन्ते युगपद्धर्माः परस्पर-विरोधिनः॥
सरूपत्वमरूपत्वं विभुत्वं मूर्तिरेव च।
निर्लेपत्वं कृपावत्त्वमजत्त्वं जायमानता॥
सर्वाराध्यत्वं गोपत्वं सार्वज्ञ्यं नर-भावता।
सविशेषत्व-सम्पत्तिस्तथा च निर्विशेषता॥
सीमावद्-युक्तयुक्तानामसीम-तत्त्व-वस्तुति।
तर्को हि विफलस्तस्माच्छ्रद्धाम्नाये फलप्रदा॥

सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्णमें अचिन्त्य विरोधभञ्जिका नामक एक शक्ति है। उस शक्तिके प्रभावसे उनमें असंख्य परस्पर विरोधी धर्म भी अविरोध-रूपमें एक साथ नित्य विराजमान हैं। श्रीकृष्णमें सरूपता और अरूपता, विभुता और श्रीविग्रह, निर्लेपता और भक्तवत्सलता, अजत्व और जन्मवत्ता, सर्वाराध्यत्व और गोपत्व, सर्वज्ञता और नर-भावता, सविशेषत्व आदि अनन्त परस्पर विरोधी धर्मसमूह सुन्दर रूपमें अपना-अपना कार्य करते हुए ह्लादिनी

महाभावमयी श्रीमती राधिकाकी सेवासहायतामें नियुक्त हैं। इस विषयमें जो तर्क करते हैं, वे नितान्त मूर्ख एवं वञ्चित हैं। तर्क आरम्भ करनेके पूर्व ही ऐसा विवेचन करना उचित है कि मानव-युक्ति तो सहज ही सीमाविशिष्ट है; अतएव असीम-तत्त्वके सम्बन्धमें उसकी पहुँच कैसे सम्भव है? सौभाग्यवान व्यक्ति शुष्क तर्कको छोड़कर आम्नाय वाक्यों (गुरु-परम्परासे गृहीत वेद, उपनिषद्, पुराण, वेदान्त और उनके अनुगत शास्त्रोंके वचन) के प्रति श्रद्धा रखते हैं। उसी श्रद्धाबीजसे भक्तिलता अंकुरित होकर क्रमशः श्रीकृष्णके चरणरूप कल्पवृक्ष पर फैलकर पुष्पित एवं पल्लवित होती है तथा प्रेमफलको प्रदान करती है। इस विषयमें आम्नायवाक्य अनेक हैं। दो-एकका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम्॥ (श्वेताश्वतर ३/१९)

भगवानके प्राकृत हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी वे सब कुछ ग्रहण करते हैं और सर्वत्र भ्रमण कर सकते हैं। उनके प्राकृत नेत्र नहीं हैं, फिर भी भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका दर्शन करते हैं। उनके प्राकृत कर्ण नहीं हैं, फिर भी सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त ज्ञेय विषयोंको जानते हैं। परन्तु उनको कोई नहीं जान सकता है। ब्रह्मज्ञ पुरुष उनको आदि और महापुरुष बतलाते हैं।

ईशावास्यमें भी कहा गया है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(५ और ८ मंत्र)

आत्मतत्त्व सचल भी है, अचल भी है, दूर भी है और निकट भी। वह विश्वके अन्दर और बाहर सर्वत्र विराजमान है।

सपर्यागाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

परमात्मा सर्वव्यापी, शुद्ध, अकाय, अक्षत, शिरारहित, उपाधिशून्य, मायातीत, कवि, सर्वज्ञ, स्वयंभू और परिभू हैं। वे अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नित्य पदार्थोंको उनके विशेषों द्वारा पृथक्–पृथक् रखते हैं।

उक्त अचिन्त्य शक्तिका परिचय तलवकारमें इस प्रकार दिया है—

तस्मै तृणं निदधावेद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं। स तत एक निववृते नैतदशकं विज्ञातुं तदेतद् यक्षमिति॥(३/६ मन्त्र)

देवासुर संग्राममें दानवोंको पराजित करनेके पश्चात् जब देवताओंको अहंकार हो गया, तब भगवान उनका अहंकार दूर करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए और अग्नि आदि देवताओंके सामने एक तृण रख दिया। अग्निदेव उस तृणके निकट पहुँच कर अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उसे जला नहीं सके। अन्तमें वहाँसे चुपचाप लौटकर अन्यान्य देवताओंसे बोले—'मैं इस वरेण्य पुरुषको नहीं पहचान सका।'

विभु होनेपर भी उनका विग्रह है। छान्दोग्यमें कहते हैं—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये।

(८/१३/१)

श्रीकृष्णकी स्वरूप शक्तिका नाम शबल है। श्रीकृष्णके आश्रयमें स्वरूप शक्तिके ह्लादिनीसार–भावका आश्रय करता हूँ और ह्लादिनीके सार–भावका आश्रय कर श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करता हूँ।

गोपालतापनीमें भी—

गोपवेशं सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥ (पूर्व १३/१)

गोपवेश, खिले हुए कमलके समान नेत्रवाले, नवीन मेघके समान कान्तिवाले, पीत वसनधारी, द्विभुज, मौन मुद्रायुक्त, वनमाला-विभूषित नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी हम वन्दना करते हैं।

शक्ति-तत्त्वके सम्बन्धमें श्रीचैतन्य-चरितामृतके निम्नलिखित पयार आलोचनीय हैं—

कृष्णेर अनन्त शक्ति ताते तीन प्रधान।
चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम॥
अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था कहि जारे।
अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति सबार ऊपरे॥
सच्चिदानन्दमय कृष्णेर स्वरूप ।
अतएव स्वरूपशक्ति हय तीन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे सम्वित् जारे ज्ञान करि मानि॥
कृष्णके आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी।
सेइ शक्तिद्वारे सुख आस्वादे आपनि॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण॥
ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम-नाम।
आनन्द चिन्मयरस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानी॥

(म. ८/१५१-१६०)

श्रीकृष्णकी एक परा शक्ति है, वह अनन्त रूपोंमें प्रकाशित है। उनमेंसे तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्ति। उनको क्रमशः अन्तरङ्गा, तटस्था और बहिरङ्गा शक्ति भी कहते हैं। इनमें अन्तरङ्गा शक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

कृष्णका स्वरूप—सच्चिदानन्दमय है। अतएव स्वरूप शक्ति तीन रूपोंमें प्रकाशित होती है—आनन्द अंशसे ह्लादिनी-शक्ति, सत् अंशसे सन्धिनी-शक्ति और चिद् अंशसे सम्वित् शक्ति। सम्वित्-शक्तिको ज्ञान-शक्ति भी कहते हैं। कृष्णको आह्लादित करती है, इसलिए इसका नाम ह्लादिनी है। इस ह्लादिनी-शक्तिके द्वारा आनन्दस्वरूप कृष्ण आनन्दका आस्वादन करते हैं तथा भक्तोंको उसका आस्वादन कराते हैं। इस ह्लादिनीके सारभागका नाम 'प्रेम' है। प्रेम सम्पूर्ण चिन्मय रस पूर्ण आनन्द है। प्रेमका परम सार ही महाभाव है। श्रीमती राधिका वही महाभावस्वरूपा हैं।

उस अचिन्त्य स्वरूपशक्तिके कार्यक्रमके अनुसार इच्छामय श्रीकृष्ण अपने धाम और परिकरों (पार्षदों) के साथ प्रापञ्चिक जगत्में स्वयं अवतीर्ण होते हैं। अपनी असीम कृपासे वे अपने अप्राकृत धाम, नाम, रूप, गुण और लीलाको बद्धजीवोंके सामने भी प्रकाश करते हैं। बद्धजीव अपनी जड़ेन्द्रियोंसे भगवानके रूप आदिका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं। परन्तु भगवानकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभाव एवं उनकी कृपासे उन्हें जड़ेन्द्रियों द्वारा भी साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाते हैं। भगवान् कभी-कभी अपने स्वांश द्वारा मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि अनेक रूपोंमें अवतार लेकर लीलाएँ करते हैं। इस विषयमें सार तत्त्व यह है कि श्रीकृष्ण अवतारी हैं और उपरोक्त सभी मत्स्य, कूर्म आदि प्रकाश-समूह अवतार हैं। स्वयं अथवा स्वांश अवतार-समूह—सभी चिन्मय हैं। उनमेंसे कोई भी

मायाकी सहायतासे प्राकृत शरीर धारण नहीं करते। कभी-कभी उपयुक्त जीवोंमें कृष्णशक्तिका आवेश भी होता है। जिसे, शक्त्यावेशावतार कहते हैं, जैसे—नारद, व्यास, पृथु आदि। श्रीचैतन्यचरितामृतमें अवतारके सम्बन्धमें इस प्रकार उपदेश है—

'प्राभव-वैभव रूपे द्विविध प्रकाश।'
'प्राभव-वैभव भेदे विलास द्विधाकार॥'
प्रकाश-विलासेर एइ कैल विवरण।
स्वांशेर भेद एबे शुन सनातन॥
संकर्षण, मत्स्यादिक,—दुइ भेद ताँर।
अवतार हय कृष्णेर षड़्विध प्रकार॥
पुरुषावतार एक, लीलावतार आर।
गुणवतार आर, मन्वन्तरावतार आर।
युगावतार आर, शक्त्यावेश अवतार॥

(म. २०/१६७, १८५, २४३-२४६)

श्रीकृष्ण परतत्त्व हैं। उनके तीन रूप हैं—(१) स्वयंरूप, (२) तदेकात्मरूप और (३) आवेश रूप। स्वयंरूप दो प्रकारके होते हैं-स्वयंरूप (ब्रजमें ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण) और स्वयं-प्रकाश। स्वयं-प्रकाश भी दो प्रकारका होता है—(१) प्राभव-प्रकाश जैसे—रासमें अनेक कृष्ण। (२) वैभव-प्रकाश—बलदेव, देवकीनन्दन (द्विभुज)। चतुर्भुज होनेपर देवकीनन्दनको प्राभव विलास कहा जाता है। तदेकात्मरूप भी दो प्रकारके हैं—(क) स्वांश—(१) कारणाब्धि-शायी, गर्भोद-शायी, क्षीरोद-शायी, ये तीन पुरुषावतार। (२) मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि लीलावतार। (ख) विलास—(१) वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, ये प्राभव विलास हैं। २४ मूर्तियाँ वैभव विलासमें हैं। श्रीकृष्णके अवतार छः प्रकारके होते हैं—(१) पुरुषावतार, (२)

लीलावतार, (३) गुणावतार (४) मन्वन्तरावतार (५) युगावतार और (६) शक्त्यावेशावतार।

अवतार तत्त्वका विस्तृत विवरण श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य-लीलाके २०वें परिच्छेदमें तथा श्रीभागवतामृत ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

पञ्चम परिच्छेद

श्रीकृष्ण ही अखिल रसामृत-समुद्र हैं

अद्वयज्ञान स्वरूप परमतत्त्व ही रस है। जो रसतत्त्वका अनभुव नहीं कर पाये हैं, उन्हें अद्वयज्ञानस्वरूप परम-तत्त्वका तनिक भी अनुभव नहीं है। अतएव तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा गया है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति॥
(२/७ अनुवाक्)

—परमतत्त्व ही रस है। उस रसको प्राप्तकर जीव आनन्द प्राप्त करता है। यदि वह अखण्ड तत्त्व रसरूप आनन्दस्वरूप नहीं होता, तो कौन जीवित रहता और प्राणोंकी चेष्टा करता? वे ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं।

रस-तत्त्वका यही स्वरूप है। जब भगवत् सम्बन्धिनी प्रवृत्ति श्रद्धा-निष्ठा-रुचि-आसक्तिके क्रमानुसार रतिका रूप ग्रहण करती है, तब उसे स्थायी भाव कहते हैं। इस स्थायी भावमें जिस समय विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी—ये चार सामग्रीरूप भाव मिलित होकर स्थायीभावरूप रतिको आस्वादनयोग्य एक परम चमत्कारमयी अवस्थामें उपस्थित करते हैं, तब वह भक्तिरस होता है। जड़ीय रस और परम चिद्रस—इन दोनोंकी प्रक्रिया एक ही प्रकारकी होती है। जहाँ भगवत् सम्बन्धिनी वृत्ति स्थायीभाव है, वहीं भक्ति रस है। जहाँ इतरविषय-संभोग सम्बन्धिनी प्रवृत्ति स्थायी भाव है, वहाँ जड़ीय तुच्छ-रस है। जहाँ निर्भेद ज्ञानानुसन्धिनी प्रवृत्ति स्थायी-भाव है, वहाँ निर्विशेष ब्रह्मरस है तथा जहाँ योगानुसन्धिनी प्रवृत्ति स्थायीभाव है, वहाँ पारमात्म्य रस है। जिस समय श्रद्धा

रति-अवस्था प्राप्त होनेके पहले ही विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—इन चार सामग्रियोंके योगसे रस होनेकी चेष्टा करती है, वहाँ असम्पूर्ण खण्डरसका उदय होता है। जड़रस अत्यन्त हेय और तुच्छ है। जड़ कवि उस जड़रसका वर्णन करते हैं, तो वे करें; जड़ानन्दीगण उसका आस्वादन करते हैं, तो वे वैसा करें; परन्तु हमें उस रससे कोई तात्पर्य नहीं है। हम तो केवल पारमार्थिक रसका ही विवेचन करेंगे। पूर्व प्रदर्शित ब्रह्मरस और पारमात्मिक-रसमें क्या भेद है—यह आगे बतलाया गया है। यहाँ रस-सामग्रीके विवेचन द्वारा रस-तत्त्वको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की गई है।

रस व्यापारमें स्थायीभावरूप रति ही आधार है। वही सामग्रीके योगसे रस होती है। सामग्री भी चार प्रकारकी है—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी। विभाव दो प्रकारके हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन भी दो प्रकारके हैं—आश्रय और विषय। जिनमें स्थायी भाव है वे ही रसके आश्रय हैं। जिनके प्रति स्थायीभाव प्रवृत्त हो, वे ही रसके विषय हैं। पारमार्थिक रसमें उपास्यवस्तु ही—विषय और उपासक ही—आश्रय हैं। उपास्य वस्तुके गुण ही उद्दीपन कहलाते हैं। नृत्य, गान, पृथ्वीपर लोटना, अङ्गोंका टूटना, हुङ्कार, जंभाई, दीर्घश्वास, लोकोपेक्षा-त्याग, लालास्राव, अट्टहास, घूमना और हिचकी आना आदि—ये सब चित्तस्थ भावके अवद्योतक होनेके कारण अनुभाव कहलाते हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—इन आठ चित्त और प्राणोत्तेजित देहगत विकारोंको सात्त्विक भाव कहते हैं। स्थायीभावकी दिशामें विशेषरूपसे निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता,

उग्रता, आमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति और बोध—ये ३३ भाव स्थायी-भावरूपी समुद्रको वर्द्धित करते हैं, इसलिए इनको व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये भाव-समूह लहरोंकी भाँति उठकर भाव-समुद्रमें निमग्न होकर स्थायी भाव-रूपताकी पुष्टि करते हैं।

रस दो प्रकारके होते हैं—मुख्य और गौण। मुख्य रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। गौण रस सात हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स।

पाँच प्रकारके मुख्यरस रतिभेदसे पृथक्-पृथक् अधिकारीमें उदित होते हैं। शान्तरति समान अवस्थामें ब्रह्म या परमात्माको विषयके रूपमें देखती है। सान्द्र अवस्थामें परव्योम नाथ—श्रीनारायणको विषयके रूपमें लक्ष्य करती है। दास्यरति ऐश्वर्यपरा होनेपर वही श्रीकृष्णको विषय बनाती है। सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुररति कृष्णके अतिरिक्त अन्य किसीको भी विषयके रूपमें नहीं जानतीं। श्रीचैतन्यचरितामृत ऐसा उल्लेख है—

साधन-भक्ति हैते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम हय॥
प्रेम-वृद्धि क्रमे नाम स्नेह-मान-प्रणय।
राग-अनुराग-भाव महाभाव हय॥
जैछे बीज इक्षुरस गुड़ खण्ड सार।
शर्करा सिता-मिश्री उत्तम मिश्री आर॥
एइ सब कृष्णभक्ति-रस स्थायीभाव।
स्थायीभावे मिले यदि विभाव-अनुभाव॥
सात्त्विक-व्यभिचारी भावेर मिलने।
कृष्ण-भक्ति-रस हय अमृत-आस्वादने॥

भक्तभेदे रतिभेद पञ्च परकार।
शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति आर॥
वात्सल्यरति, मधुररति–ए पञ्च विभेद।
रतिभेदे कृष्णभक्ति–रस पञ्चभेद॥

(म. १५/१७६–१८३)

—साधन भक्तिसे रतिका उदय होता है। रति गाढ़ी होनेपर प्रेम कहलाती है। प्रेम गाढ़ा होनेपर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव कहलाता है। जैसे गन्ना ही क्रमशः रस, गुड़, खण्ड, खण्डसार, शर्करा, सीता, मिश्री और उत्तम मिश्री कहलाता है। पाँच प्रकारके स्थायीभावोंके साथ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी भावोंके मिलने पर कृष्ण–भक्ति रस होती है। भक्तभेदसे कृष्णरति भी पाँच प्रकारकी होती है—शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुररति।

जो लोग इस रस–तत्त्वको भलीभाँति समझना चाहते हैं, वे भक्ति–रसामृत–सिन्धुके दक्षिण, पश्चिम और उत्तर विभागोंको तथा उसके परिशिष्ट श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थको तत्त्वज्ञ गुरुके पास अध्ययन करेंगे। श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीरूप और सनातन–शिक्षामें भी इस विषयका संक्षेपमें वर्णन किया गया है—उसकी भी आलोचना करनी चाहिए।

यहाँ श्रीकृष्णका अखिल–रसामृत–समुद्रत्त्व ही प्रदर्शित होगा। श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञान रूप परमतत्त्व हैं—इसे पहले ही दिखलाया जा चुका है। श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं—इसे भी प्रमाणित किया जा चुका है। अब श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित निम्नलिखित श्लोकका विचार करने पर श्रीकृष्णके सम्बन्धमें सब कुछ ज्ञात हो जायेगा—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्ण-स्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

(भ. र. सि., पू. वि. ३२)

—नारायण और कृष्ण—इन दोनों स्वरूपोंमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। तथापि शृङ्गाररसके विचारसे श्रीकृष्णस्वरूपकी उत्कर्षता है। इसी प्रकार रस तत्त्वकी स्थिति है।

ब्रह्म और परमात्मा—ये दोनों परम-अद्वयतत्त्वकी प्रतीतिविशेष होनेपर भी स्वरूप-विहीन हैं। अर्थात् उनका रूप विशेष नहीं है। भगवत् तत्त्व ही सर्वदा स्वरूप-संप्राप्त हैं। अर्थात् भगवान्का अपना नित्य रूप है। भगवत् प्रकाश दो प्रकारका है—ऐश्वर्य-प्रधान-प्रकाश और माधुर्य-प्रधान-प्रकाश। ब्रह्म और परमात्म-प्रतीतियोंके सम्बन्धमें जो शान्तरस होता है, वह अतिशय क्षुद्र है। ऐश्वर्य-प्रधान भगवत्-प्रकाशके सम्बन्धमें उपासकमें केवल दास्यरसका ही उदय होता है। वहाँ भगवद् ऐश्वर्य इतना अधिक तथा जीवकी क्षुद्रता इतनी अधिक है कि दोनोंके बीच परस्पर एक संभ्रम-बुद्धि हुए बिना रह नहीं सकती। उस संभ्रम-बुद्धिके रहते जीवका उच्च-रसमें अधिकार नहीं होता। अतएव भगवानने कृपापूर्वक (अपने नित्य) श्रीकृष्णस्वरूपको जीवके सम्बन्धमें प्रकाशित किया है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें ऐसा कहा गया है—

ऐश्वर्य-ज्ञाने सब जगत मिश्रित।
ऐश्वर्य-शिथिल प्रेमे नाहि मोर प्रीत॥
आमारे ईश्वर माने आपनाके हीन।
तार प्रेमे वश आमि ना हइ अधीन॥
आमाके त जे जे भक्त भजे जेइ भावे।

तारे से से भावे भजि ए मोर स्वभावे॥
मोर पुत्र मोर सखा मोर प्राण-पति।
एइ भावे जेइ मोरे करे शुद्ध भक्ति॥
आपनाके बड़ माने, आमारे सम हीन।
सेइ भावे हइ आमि ताहार अधीन॥
माता मोरे पुत्र भावे करेन बन्धन।
अति हीन-ज्ञाने करे लालन-पालन॥
सखा शुद्ध-सख्ये करे स्कन्धे आरोहण।
तुमि कोन् बड़ लोक तुमि आमि सम॥
प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन।
वेद स्तुति हैते हरे सेइ मोर मन॥
एइ शुद्धा भक्ति लञा करिमु अवतार।
करिब विविधविध अद्भुत विहार॥

(आ. ४/१७-२७)

—कृष्ण-प्रेम दो प्रकारका होता है—ऐश्वर्य-मिश्र और केवल। कृष्णको भगवान् और अपनेको दीन-हीन क्षुद्र मानकर जो प्रेम होता है, वह ऐश्वर्य-मिश्र प्रेम है। जगत्में यह मिश्र प्रेम ही अधिकतर देखा जाता है। किन्तु इस ऐश्वर्य-मिश्र प्रेमसे भगवान् वशीभूत नहीं होते। केवल-प्रेममें मेरे भक्त मुझे अपना पुत्र, सखा और प्रियतम मानकर प्रीति करते हैं। वे कभी अपनेको मेरे लालन-पालन करने वाले गुरुजन और कभी बराबरी वाला मानते हैं। मैं ऐसे केवल-प्रेमके ही वशीभूत होता हूँ। ऐसे प्रेमसे कभी माता पुत्र भावसे मुझे बाँधती है, अबोध समझकर लालन-पालन करती है। सखालोग शुद्ध सख्य भावसे मेरे कन्धों पर चढ़ते हैं। प्रियगण मान करके मेरी भर्त्सना करती हैं—फटकारती हैं। उनकी यह भर्त्सना भी ब्रह्माकी वेदस्तुतिसे

भी मुझे अधिक प्रिय लगती है। मैं इसी शुद्ध प्रेमाभक्तिको लेकर श्रीगौराङ्ग अवतार ग्रहण करूँगा तथा विविध प्रकारसे अद्भुत विलास करूँगा।

प्रिय प्राठकों! यदि श्रीकृष्ण स्वरूप प्रकटित न होते, तो जीवके सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन उच्चकोटिके त्रिविध रसोंका विषय नहीं पाया जाता। जगत्में भाव ही प्रधान वस्तु है। परतत्त्वके सम्बन्धमें जीवका ज्ञान स्वभावतः अत्यन्त संकीर्ण या सीमित है। ज्ञान-मार्ग पर कुछ दूर चलकर जीव ईश्वरभावका कोई पता तक नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए ज्ञान-प्रधान साधनमें ईश्वरका स्वरूप न जान पानेके कारण उन्हें 'निर्विशेष' या निराकार बतलाकर ही सन्तुष्ट होना पड़ता है। जब ज्ञान-मार्ग पर चलकर भी ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई, तब भावमार्गके अतिरिक्त ईश्वर-प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय ही शेष नहीं रहता। जो जीव जितना ही उन्नत है, ईश्वरभाव उसमें उतना ही अधिक सुख-जनक है। विद्या और बुद्धिके विषयमें जो उन्नति होती है, वह पारमार्थिक उन्नति नहीं है। पारमार्थिक उन्नति तो केवलमात्र उत्तरोत्तर शुद्ध भावके द्वारा ही अर्जनीय है। कोई नितान्त मूर्ख व्यक्ति भी ईश्वरकी कृपाको अधिक मात्रामें प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर कोई सर्व-विषयोंमें पारंगत, प्रकाण्ड विद्वान् भी नास्तिक, पशु-स्वभाव-युक्त एवं ईश्वर-प्रसाद रहित हो सकता है। अतएव ईश्वरकी प्राप्तिमें विद्या, धन, बल, रूप और जड़ीय कार्योंकी कुशलता—ये तनिक भी काम नहीं आते। महापण्डित और महाधुरन्धर व्यक्ति एक ओर मदोन्मत्त होकर क्रमशः नरककी ओर अग्रसर होता है तथा दूसरी ओर अत्यन्त मूर्ख और बल-बुद्धि रहित कोई व्यक्ति परमेश्वरकी भक्ति द्वारा परम शान्तिको प्राप्त होता है। अतएव भाव ही परमार्थकी प्राप्तिका मूलाधार है। वही भाव

अधिकार भेदसे अधिकांश क्षेत्रोंमें शान्त और दास्यमें परिणत होता है। कोई-कोई विरला भक्त ही सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव तक चरमोन्नतिको प्राप्त होता है। मधुर भावको प्राप्त करनेवाला शुद्ध भक्त ही समस्त प्रकारके रसिक भक्तोंमें श्रेष्ठ है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस विषयमें कहा गया है—

शान्तेर गुण, दास्येर सेवन—सख्ये दुइ हय।
दास्ये संभ्रम-गौरव-सेवा, सख्ये विश्वासमय॥
आपनाके पालक ज्ञान, कृष्णे पाल्य ज्ञान।
चारि रसेर गुणे वात्सल्य अमृत समान॥
कान्त भावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
अतएव मधुर रसेर हय पंच गुण॥
आकाशादि गुण जेन पर पर भूते।
एक दुइ तीन क्रमे पंच पृथिवीते॥

(म. १९/२१९, २२५, २२९-२३०)

—शान्त रसका गुण निष्ठा और दास्यका सेवन—ये दोनों गुण सख्य रसमें होते हैं। दास्यकी संभ्रम-गौरवपूर्ण सेवा, सख्यका विश्रंभ—अर्थात् विश्वासमय भाव, अपनेमें कृष्णका पालक भाव तथा कृष्णको पाल्य ज्ञान—इन चार गुणोंसे युक्त वात्सल्य रस अमृतके समान आस्वादन युक्त होता है। इन चारों गुणोंके साथ कान्ता रूपमें अपने सर्वांगसे सेवन—इन पाँच गुणोंसे मधुर रस युक्त होता है। यह मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। उदाहरण स्वरूप जैसे पृथ्वीमें आकाश आदि पंचभूतोंके पाँचों गुण विद्यमान होते हैं।

क्षुद्र विषयरसका सेवन करनेवाले मधुररसका नाम सुनकर उसके प्रति सहज ही विश्वास नहीं कर पाते, बल्कि अपराधकी आशंका करते हैं। प्रचलित दूसरे-दूसरे धर्म प्रायः दास्यरसाश्रित हैं। अतएव

उन धर्मोंके पण्डितगण मधुर–रसके द्वारा ईश्वर भजनकी बात सुनकर कुछ अंशोंमें भयके कारण और कुछ अंशोंमें पतनकी आशंकाके कारण उसे स्वीकार नहीं करते। वे ऐसा भी सोच सकते हैं कि भजनके सम्बन्धमें मधुर रसकी भावना एक विकृत कल्पना मात्र है। सभी विषयोंमें निम्नाधिकारी व्यक्ति उच्चाधिकारीकी क्रिया–मुद्राओंको भ्रम ही मानते हैं। परन्तु सौभाग्यसे वही निम्नाधिकारी जब स्वयं उच्चाधिकारमें पहुँच जाता है, तब ऐसा विचार करता है कि 'ओह! मैं कैसा मूर्ख था कि इस उच्चाधिकारकी पहले निन्दा करता था। यह मेरी भूल थी।' अतएव हम नम्रतापूर्वक दूसरे–दूसरे धर्मावलम्बियोंसे निवेदन करते हैं कि यह विषय अत्यन्त गम्भीर है। इस विषयमें भलीभाँति प्रवेश किये बिना कोई कुसंस्कार–विशिष्ट सिद्धान्त न बना लें। हृदय–भवनमें हृदयेश्वरको सिंहासन पर बैठाकर इस रससे उनकी उपासना करके देखिये; यदि अच्छा लगे, तो सद्गुरुका आश्रय लेकर रसका आस्वादन करनेके लिए प्रयत्न कीजिए। यदि अच्छा न लगे तो, अपने अधिकारके विरुद्ध जानकर इसका परित्याग कीजिए। परन्तु किसी प्रकारकी अवहेलना न करें।

इस विषयमें यहाँ विस्तृत विचारका अवकाश नहीं है। परन्तु यहाँ तक तो कहा ही जा सकता है कि मधुररसके अधिकारी व्यक्ति नारायण आदि किसी भी दूसरे स्वरूपको उपासनाका विषय नहीं बनाते। केवल एक श्रीकृष्ण–स्वरूप ही इस सर्वोच्च रसके विषय हैं। निरपेक्ष होकर तथा मतवादजनित पूर्व संस्कारके हाथोंसे मुक्त होकर विचार करनेसे यही निर्णीत होगा कि रसतत्त्वमें सब रूपोंसे श्रीकृष्ण रूप ही निर्मल और श्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्णस्वरूप सख्यादि रसोंमें भक्तोंके साथ साम्यगुणके आश्रय हैं अर्थात् उक्त रसमें श्रीकृष्ण और भक्तोंके समजातीय भाव होते हैं। इसीलिए श्रीकृष्णस्वरूप अन्य स्वरूपोंसे

न्यून या छोटा होना तो दूर रहा, दूसरे सभी रूपोंसे सब प्रकारसे श्रेष्ठ और प्रबल हैं। दूसरे स्वरूप जिस प्रकार चिन्मय, जड़ातीत, पूर्णगुण-सम्पन्न और माया-विजयी हैं, श्रीकृष्ण-स्वरूप भी वैसे ही अप्राकृत गुणशाली हैं। श्रीकृष्ण स्वरूपमें यह विशेषता है कि इस हेय प्रपंचमें भी अपनी पूर्ण चिल्लीलाको अपनी चित् शक्तिके द्वारा जड़ेन्द्रियोंके सामने भी प्रत्यक्ष कर दिखलाते हैं। प्रपञ्चमें अवतीर्ण होकर प्रापञ्चिकवत् व्यवहारमें भी वे सर्वत्र ही सर्वैश्वर्यसम्पन्न रहते हैं। बालकोंके साथ प्राणप्रिय बालकोंकी भाँति, माता-पिता आदि गुरुजनोंके निकट आश्रित शिशुकी भाँति, मधुर रसाश्रित भक्तोंके निकट प्राणनाथकी भाँति व्यवहारके समय भी ईशिता (ईश्वरत्व) की पराकाष्ठाका प्रदर्शन करते हैं। मनुष्योंके निकट नर-लीला करते हुए भी समस्त आधिकारिक देवताओंके सर्वेश्वरकी भाँति कार्य कर पण्डितोंको भी आश्चर्यचकित कर देते हैं। यदि कृष्ण कृपापूर्वक गोपभावसे वैसी जगदुन्मादिनी लीलाका प्रकाश नहीं करते, तो परमेश्वर मधुररसके विषय भी हैं—ऐसा कोई भी अनुभव नहीं कर पाता। कृष्णलीला नर-कल्पनाका विषय नहीं है अथवा वंचित लोगोंका अधर्म एवं अन्धविश्वास नहीं है। इसे तो केवल परमार्थविद् व्यक्ति ही समझ सकते हैं। कृष्णलीलामें ब्रजलीला ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि इसीमें रसके विषयमें जीवका सर्वोत्तम लाभ होते देखा जाता है। तार्किक और नैतिक बुद्धिवाले कृष्णलीलाकी महिमाका स्पर्श ही नहीं कर सकते। जिन भक्तोंने श्रीकृष्णकी ब्रजलीलाकी माधुरीका आस्वादन किया है, केवल वे ही उसकी माधुरीको जान सकते हैं। ब्रजलीलाको हृदयंगम करना बड़े ही सौभाग्यकी बात है। तर्क, नीति, ज्ञान, योग और धर्म-अधर्मके विचार आदि इस दिशामें अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होने लगते हैं तथा ब्रजतत्त्वका महादीपक अप्राकृत-बुद्धिशाली

व्यक्तियोंके हृदयमें देदीप्यमान होकर चिदालोकका वितरण करता है। इस विषयका निम्नलिखित कारिकाओंमें इस प्रकार वर्णन है—

विभावाद्यैर्जड़ोद्भूतै रसोऽयं व्यवहारिकः।
अप्राकृतैर्विभावाद्यै रसोऽयं पारमार्थिकः॥
परमार्थरसः कृष्णस्तन्माया छायया पृथक्।
जड़ोदितं रसं विश्वे वितनोति बहिर्मुखे॥
भाग्यवांस्तं परित्यज्य ब्रह्मानन्दादिकं स्वकम्।
चिद्विशेषं समाश्रित्य कृष्णरसाब्धिमाप्नुयात्॥
तन्त्वौपनिषदं साक्षात् पुरुषं कृष्णमेव हि।
आत्मशब्देन वेदान्ता वदन्ति प्रीतिपूर्वकम्॥

—जड़ीय विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चार प्रकारकी सामग्रियों द्वारा पुष्ट रति जब रस होती है, तब वह व्यवहारिक है। अप्राकृत विभाव आदि सामग्रियों द्वारा पुष्ट रति जब रसका रूप धारण करती है, तब वह पारमार्थिक है। पारमार्थिक रसके एकमात्र विषय कृष्ण हैं। छायारूपा मायामें उस रसका केवल हेय प्रतिफलन मात्र है। अतएव वह चिद् रससे पृथक् है। बहिर्मुख जड़ जगतमें जड़ीय रसकी ही विस्तृति है। सौभाग्यवान व्यक्ति उस स्वगत ब्रह्मानन्द आदिका परित्याग कर चिद्विशेषका आश्रय कर कृष्ण-प्रेमरूप रससमुद्रमें निमज्जित हो पड़ता है। वृहदारण्यक उपनिषद्में **"तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"**—(मैं उपनिषदमें वर्णित पुरुषकी जिज्ञासा करता हूँ।) इस मन्त्रके उद्दिष्ट पुरुष ही साक्षात् कृष्ण हैं। वेदान्तमें आत्मशब्दका उल्लेख कर बड़े प्रेमसे कृष्णका ही वर्णन किया गया है।

रस दो प्रकारके हैं—व्यवहारिक और पारमार्थिक। जड़ीय विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—ये जड़ीय सामग्रियाँ जब

जड़ोन्मुखी रतिको रसताकी अवस्थामें लाती हैं, तब व्यवहारिक जड़ देहगत स्त्री-पुरुषोंका रस होता है। यह अतिशय तुच्छ, अनित्य और विकृत होता है। यह रस अप्राकृत रसतत्त्वका हेय प्रतिफलन मात्र है। स्थूल और लिङ्ग शरीरोंके सम्बन्धसे मुक्त होनेपर शुद्ध जीव चिन्मय होता है। जीवकी शुद्ध चिन्मय सत्तामें स्वभावगत सहज रति भी चिन्मयी होती है। वही रति स्थायीभाव बनकर चिन्मय विभाव, चिन्मय सात्त्विक और चिन्मय व्यभिचारी भावसमूहको सामग्रीके रूपमें प्राप्त कर जब आस्वादनके योग्य अवस्था लाभ करती है, तब चिन्मय-रस उदित होता है। विशेषतः जब चिन्मय आलम्बनके अन्तर्गत चिन्मय कृष्ण स्वरूप इस रसके विषय होते हैं, तभी कृष्णभक्ति-रस उदित होता है। कृष्ण ही परमार्थ रस हैं। उनकी मायाशक्ति अपने छायास्वरूपमें कृष्ण-विमुख जीवोंमें जड़ोदित रसका विस्तार करती है। सौभाग्यवान पुरुष उस हेय रसका परित्याग कर और जीवगत क्षुद्र ब्रह्मानन्द रसको भी अतिक्रम कर चित्-तत्त्वमें जो निर्मल विचित्र विशेष है, उसीका अवलम्बन कर कृष्णरूप रस-समुद्रको प्राप्त करता है। कोई कृष्ण-रसको सांसारिक रस मानकर लघु या हेय न समझ बैठे—इस आशंकासे "श्रीउज्ज्वलनीलमणि" नामक ग्रन्थमें नायक-भेद प्रकरणके सोलहवें श्लोकमें कहा है—

लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत-नायके।
न कृष्णे रसनिर्यास-स्वादार्थमवतारिणि॥

श‍ृङ्गार-रसका सम्पूर्ण व्यापार मायिक होनेपर वह अतिशय लघु और घृणित है; परन्तु वह व्यापार शुद्ध अप्राकृत होने पर अत्यन्त गुरु और चिज्जगतके लिए परम आदरणीय है। इस रसमें तनिक भी जड़ व्यापार नहीं है। केवल अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंकी ही स्थूल और लिङ्ग देहमें किञ्चित् व्याप्ति है। रस-निर्यासका

आस्वादन करनेके लिए ही प्रपञ्चमें श्रीकृष्णका उदय है। वे अवतार नहीं, स्वयं अवतारी हैं। अप्राकृत अवतारी सर्वजीव-नायकके लिए अप्राकृत शृङ्गारपर्वमें जो परकीया आदि विचित्राताएँ हैं, वे कदापि हेय और घृणित नहीं हो सकती हैं। इस विषयमें जितना ही निरपेक्ष होकर विचार किया जायेगा, उतना ही उच्च कोटिका सुसिद्धान्त प्राप्त होगा। नैतिक व्यक्तियोंको जड़ीय रसके प्रति जो घृणा होती है, उसे यदि अप्राकृत रसचिन्तनकी ओर लगाया जाय, तो उसे एक कुसंस्कारके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उस कुसंस्कारके अधीन होकर चिन्मय जीवके अप्राकृत-देह द्वारा अप्राकृत कृष्णके साथ रासलीला आदिरूप अप्राकृत-रसको भाग्यहीन व्यक्ति ही घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। इससे आत्मवंचनाके अतिरिक्त और फल ही क्या हो सकता है? श्रीकृष्ण ही एकमात्र औपनिषद पुरुष हैं। वेदान्तमें अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनको "आत्म" शब्दसे सम्बोधित किया गया है—

"आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।"—छान्दोग्य (७/२५/२)

आत्मारूप कृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं—जीव ऐसा देखकर, मननकर, जानकर आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन एवं आत्मानन्द होकर स्वराट् होता है।

माण्डूक्यमें भी कहा गया है—

'सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।'

(मा. उ. १/२)

यह सब कुछ अवर ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मशक्तिसे उत्पन्न तत्त्व है। आत्मरूप श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे चतुष्पाद हैं अर्थात् एक होकर

भी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे सदा-सर्वदा चार स्वरूपोंमें महारसमय हैं। श्रीजीव गोस्वामीने इन चार स्वरूपोंका वर्णन स्वरचित भगवत्-सन्दर्भमें किया है—

"एकमेव परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूपवैभव-जीव-प्रधानरूपेण चतुर्द्धावतिष्ठति। सूर्यान्तर-मण्डलस्थित-तेज इव, मण्डल, तद्बहिर्गत-तद्रश्मि, तत्प्रतिच्छविरूपेण।"

—परतत्त्व एक हैं। वे स्वाभाविक अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न हैं। इस शक्तिके प्रभावसे वे सदा-सर्वदा चार स्वरूपोंमें विद्यमान रहते हैं—स्वरूप, तद्रूप-वैभव, जीव और प्रधान। सूर्य, सूर्य-मण्डलके भीतरका तेज, उसकी बहिर्गत रश्मियाँ, उसकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन—ये चार अवस्थाएँ कुछ अंशोंमें दृष्टान्त-स्वरूप हैं।

उन कृष्णका स्वरूप, तद्रूपवैभव और जीवगत जो शुद्ध चिन्मय-रस विलास है, वह अत्यन्त उपादेय है। निम्नलिखित कारिकाओंमें देखिए—

वेदार्थवृंहणं यत्र तत्र सर्वे महाजनाः।
अन्वेषयन्ति शास्त्रेषु शुद्धं कृष्णाश्रितं रसम्॥
सनकादि-शिव-व्यास-नारदादि-महत्तमाः ।
शास्त्रेषु वर्णयन्ति स्म कृष्णलीलात्मकं रसम्॥
लब्धं समाधिना साक्षात् कृष्ण-कृपोदितम् शुभम्।
अप्राकृतञ्च जीवे हि जड़भाव-विवर्जिते॥

श्रीमद्भागवत आदि वेदार्थ-वृंहणरूप शास्त्रोंमे महाजनोंने कृष्णाश्रित शुद्ध-रसका अन्वेषण किया है। सनक आदि, शिव, व्यास और नारद आदि महर्षियोंने अपने-अपने प्रकाशित ग्रन्थोंमें जड़भावरहित शुद्ध जीवके द्वारा साक्षात् समाधि-लब्ध कृष्णकी कृपासे उदित अप्राकृत कृष्णलीलात्मक-रसका वर्णन किया है।

ऐसे अमृतमय श्रीकृष्ण–रसको इस जगतमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी ही लाये हैं, उनसे पहले आज तक कोई भी नहीं लाया। यह दिखलानेके लिए श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीका एक श्लोक उद्धृत किया जा रहा है—

प्रेमानामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावन–विपिन–महामाधुरीषु प्रवेशः।
को वा जानाति राधां परमरस चमत्कार माधुर्यसीमा–
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परम करुणया सर्वमाविश्चकार॥

(चैतन्यचन्द्रामृत १३०)

हे भ्रातः! प्रेम–नामक परम पुरुषार्थका नाम किसने श्रवण किया था? श्रीहरिनामकी महिमा कौन जानता था? श्रीवृन्दावनकी परम चमत्कारमयी माधुरीमें किसका प्रवेश था? परमाश्चर्यमय माधुर्यरसकी पराकाष्ठा श्रीमती राधिकारूपी पराशक्तिको ही भला कौन जानता था? एकमात्र परम करुणामय श्रीचैतन्यचन्द्रने ही जीवोंके प्रति कृपापूर्वक इन सब तत्त्वोंका आविष्कार किया है।

षष्ठ परिच्छेद
जीव हरिके विभिन्नांश-तत्त्व हैं

संसारमें जीवतत्त्वके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी परस्पर विवादास्पद धारणाएँ हैं। जो जिस प्रकृतिका मनुष्य है, वह उसी प्रकृतिके अनुसार जीवके सम्बन्धमें एक प्रकारकी धारणा बना लेता है। तामस-प्रकृतिके लोगोंकी धारणाके अनुसार जीव जड़-गुणोंसे उत्पन्न पदार्थ है। उनके मतानुसार ऐसा जीव जड़-शरीरके साथ ही पंचत्वको प्राप्त हो जाता है। रजस्तमोमिश्र प्रकृतिवाले लोग केवल मनुष्यको ही जीव कहते हैं; वे मनुष्यके अतिरिक्त अन्यान्य पशु-पक्षी आदि प्राणियोंको जीव नहीं मानते। उनके अनुसार पशु आदि जीव-प्राय हैं और वे जीवोंके (मनुष्योंके) केवल भोग्यमात्र हैं। उनके मतानुसार भगवत् पार्षदगण जीवसे कुछ उच्च तत्त्व हैं। वे मनुष्यके पूर्वजन्म और परजन्मको नहीं मानते। किसीका जन्म समृद्ध परिवारमें और किसीका सर्व प्रकारसे दुःखी और दरिद्र परिवारमें, कोई सर्व प्रकारसे सुन्दर और कोई जन्मान्ध, लंगड़ा, लूल्हा पैदा होता है। ऐसा क्यों होता है—वे इस विषयमें कुछ भी नहीं कह सकते। राजस मनुष्य—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सबको जीव मानते हैं, परन्तु जीवकी लोकगति (स्वर्गादि) के अतिरिक्त शुद्ध चिद्गतिके प्रति श्रद्धा नहीं रखते। रज-सत्त्वमिश्र मानव जीवोंकी लोकगति तक तो विश्वास करते हैं, परन्तु वे लोग जीवोंकी शुद्ध चिद्गतिमें उतनी श्रद्धा नहीं रखते। सात्त्विक मनुष्य जीवोंकी निर्भेद ब्रह्मगति तक विश्वास करते हैं। मायाके गुणोंसे मोहित मानवोंका विचार जीव तत्त्वके सम्बन्धमें यहीं तक सीमित होता है। मायाके तीनों गुणोंको

भेद कर जो निर्गुण विचार करनेमें समर्थ होते हैं, वे श्रीचैतन्यचरितामृतके निम्नलिखित वचनोंको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं—

'मायाधीश', 'मायावश'—ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीवे ईश्वर-सह कह त अभेद?
गीताशास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि माने।
हेन जीवे 'अभेद' कर ईश्वरेर सने॥
जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर तटस्था-शक्ति, भेदाभेद-प्रकाश॥
सूर्यांशु-किरण, जेन अग्निज्वालाचय।
★ ★ ★ ★
कृष्ण भुलि सेइ जीव—अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥
मायासंग-विकारे रुद्र-भिन्नाभिन्न रूप।
जीवतत्त्व हय, नहे कृष्णेर 'स्वरूप'॥
दुग्ध जेन अम्लयोगे दधिरूप धरे।
दुग्धान्तर वस्तु नहे, दुग्ध हैते नारे॥
स्वांग-विशेषाभासरूपे प्रकृति-स्पर्शन।
'जीव' रूप 'बीज' ताते कैला समर्पण॥
स्वांश-विस्तार—चतुर्व्यूह, अवतारगण।
विभिन्नांश जीव—ताँर शक्तिते गणन॥
सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त प्रकार।
एक—नित्यमुक्त, एक—नित्य-संसार॥

(मध्य ६/१६२-१६३, २०/१०८-१०९, ११७, ३०८-३०९, २७३, २२/९-१०)

—ईश्वर-मायाधीश हैं; जीव—मायावश होता है। ईश्वर और

जीवमें यही भेद है। गीतामें जीवको शक्ति माना गया है। ऐसे जीवको ईश्वरसे अभेद मानते हो? यह अपसिद्धान्त है। जीवका स्वरूप कृष्णका नित्यदास है। वह कृष्णकी तटस्थाशक्तिसे प्रकटित और कृष्णका भेदाभेद प्रकाश है। जैसे सूर्यकी किरणोंमें परमाणु-समूह और अग्निकी चिनगारियोंके परमाणु समूह होते हैं, वैसे ही श्रीकृष्णकी तटस्था शक्तिसे अगणित अनन्त जीव प्रकटित हैं।

★ ★ ★ ★

अपने प्रभु श्रीकृष्णको विस्मृत होकर जीव अनादिकालसे बहिर्मुख हो पड़े हैं। ऐसे बहिर्मुख जीवोंको माया सांसारिक दुःख-क्लेश प्रदान करती है। मायाके संगसे विकार लाभकर रुद्र ईश्वरके भिन्न-अभिन्न रूप हैं। वे कृष्णके स्वरूप नहीं हैं—बल्कि जीव तत्त्व हैं; जैसे दूध अम्लयोगसे दधिके रूपमें रूपान्तरित हो जाता है। दही—दूधके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है; फिर भी वह कभी दूध नहीं हो सकता। वैसे ही रुद्र कृष्ण नहीं हो सकते। अपने अंशके विशेष आभास रूपसे प्रकृतिका स्पर्श करते हुए उसमें 'जीव' रूप बीजको समर्पण करते हैं। अवतारसमूह और चतुर्व्यूह आदि—स्वांश अवतार कहलाते हैं। जीव—भगवानका विभिन्नांश तत्त्व है। यह भगवानकी शक्तिके अन्तर्गत माना गया है।

सात्त्विक ज्ञान-सम्पन्न मनुष्य जड़ीय ज्ञानके व्यतिरेक अनुशीलन द्वारा ऐसा सिद्धान्त करते हैं कि वास्तवमें ब्रह्म और जीवमें भेद नहीं है। इनमें भी तीन सम्प्रदाय हैं। पहले सम्प्रदायके मतानुसार इस संसारमें जो ब्रह्म और जीवमें भेद दिखलाई पड़ रहा है, वह मिथ्या है; वह केवल मायिक प्रतीतिमात्र है; अर्थात् मायाद्वारा आच्छादित होनेके कारण ऐसी प्रतीतिमात्र हो रही है, वास्तवमें जीव ब्रह्म ही है। जिस प्रकार महाकाश और घटाकाश (घड़ेके अन्दरका आकाश)

मिथ्याज्ञानके द्वारा अलग प्रतीत होता है, उसी प्रकार मायाके कारण ही भ्रमसे जीव और ब्रह्मका भेद-सा दिखलायी पड़ता है; वस्तुतः दोनों एक ही हैं। अविद्या तिरोहित होने पर भ्रम दूर हो जाता है। उस समय जीवत्वरूप अहंकार दूर हो जाता है और केवल महाकाश स्वरूप ब्रह्म ही रहता है। इस मतका नाम परिच्छेद-परिच्छिन्नवाद है। दूसरे सम्प्रदायका मत यह है कि ब्रह्म-बिम्ब है; और जीव-अविद्यामें उसी बिम्बकी प्रतिबिम्ब प्रतीतिमात्र है; वास्तवमें जीव नहीं है। अविद्या मायाशक्तिकी एक वृत्ति है। अविद्याजनित भ्रम दूर होने पर जीवका जीवत्व निर्वाण हो जाता है। तीसरे सम्प्रदायका कथन यह है कि वास्तवमें कुछ भी नहीं हुआ है। माया-भ्रम नामक एक उपद्रव है। इसीसे भेदकी प्रतीति हो रही है। भलीभाँति विचार करनेपर स्पष्टरूपसे यह समझा जा सकता है कि उपर्युक्त मत समूह वागाड़म्बर मात्र हैं अथवा तर्कद्वारा उत्पन्न हुए हैं, जो विरोधी तर्ककुशलता द्वारा सहज ही नष्ट हो जाते हैं। ये सभी वाद वेदके एकदेशीय विचारका अवलम्बन कर उत्पन्न हुए हैं—ये वेदके सर्वदेशीय पूर्ण सिद्धान्त नहीं हैं। वेदका सिद्धान्त यह है कि ईश्वर स्वभावतः मायाके अधीश्वर हैं तथा जीव स्वभावतः मायावश है अर्थात् मायाद्वारा वशीभूत होने योग्य तत्त्व है। वेद कहते हैं—अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।

(श्वेताश्वतर ४/९-१०)

मायाधीश ईश्वरने मायाद्वारा इस जड़ जगतका सृजन किया है। इस जड़जगतमें ईश्वरसे भिन्न एक तत्त्व—जिसे जीव कहते हैं, मायाद्वार बँधा हुआ है। माया परमेश्वरकी एक शक्ति है। मायाधीश पुरुष ही परमेश्वर हैं। ऐसे जीवका किसी भी अवस्थामें ईश्वरके

साथ अभेद नहीं है। गीतामें जीवको शक्ति कहा गया है। इसलिए उसे केवल अभेद नहीं कहा जा सकता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७/४–५)

भुमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच जड़ तत्त्व, एवं मन; बुद्धि और अहंकार—ये तीन सूक्ष्म–जड़, कुल आठ प्रकारकी मेरी भिन्न स्वरूपा अपरा या माया प्रकृति है। इससे पृथक् मेरी और भी एक जीव–स्वरूपा परा–प्रकृति है। मेरी इस जीवस्वरूपा परा–प्रकृति द्वारा यह जगत परिपूर्ण है। जीवका स्वरूप कृष्णदास है; वह कृष्णकी तटस्था शक्ति है। जो शक्ति चित् और अचित् दोनों ही जगतोंके लिए उपयोगी है, उसीका नाम तटस्था है। वह कृष्णका भेदाभेद प्रकाश है अर्थात् कृष्णसे उसका एक ही साथ भेद भी है, और अभेद भी; केवल भेद या केवल अभेद ही नहीं है। वृहदारण्यक (४/३/९)में कहते हैं—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च।

—उस जीव–पुरुषके दो स्थान हैं अर्थात् यह जड़ जगत् और अनुसंधेय चित् जगत्; जीव उन दोनोंके बीच अपने सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थान पर स्थित है। वह दोनों जगतोंके मिलन स्थान पर (तट पर) स्थित होकर जड़–विश्व और चिद्–विश्व दोनोंको ही देखता है।

वृहदारण्यक (४/३/१८) में भी कहते हैं—

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वञ्च परञ्चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वरुप्नान्तञ्च बुद्धान्तञ्च।

वह तटस्थ धर्म इस प्रकार है—जैसे एक बड़ी मछली नदीमें तैरती हुई कभी नदीके पूर्व तट पर, कभी पश्चिमी तट पर अर्थात् दोनों ओरके तटों पर विचरण करती है, उसी प्रकार जीव पुरुष कारण-समुद्रके दोनों ओरके दो तटों अर्थात् जड़ जगत् और चिद् जगत् दोनों जगतोंमें (स्वप्नान्त और बुद्धांत दोनों किनारोंमें) संचरण करते हैं।

तटस्था-शक्तिसे प्रकटित जीवसमूह परमेश्वरसे उत्पन्न होने पर भी पृथक् सत्तावाले होते हैं। सूर्यके किरणगत परमाणु या अग्निकी चिनगारी ही जीवका उपमा-स्थल है। वृहदारण्यक (२/१/२०) में ऐसा कहा गया है—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

जिस प्रकार अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सर्वात्मा कृष्णसे जीव-समूह प्रकटित हैं। इससे यह स्थिर होता है कि तटस्थ धर्मवशतः माया और चिद् दोनोंके लिए उपयोगी जो विभिन्नांश अणुचेतन समूह उदित हुए हैं, वे मूल आत्मस्वरूप कृष्णके अनुगत-सत्ता विशेष हैं। ये चिद् और जड़—दोनों जगतके बीच तट रेखा पर खड़े होकर दोनों जगतकी ओर देखते हैं। उस समय उनके अन्दर भोगकी कामना उत्पन्न होती है, तो तत्क्षण ही वे चित्-सूर्य कृष्णसे विमुख हो जाते हैं। साथ ही निकटस्थ माया उसे भोगायतनरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रदान कर संसारके जीवन-मरणके प्रवाहमें डाल देती है। उनकी वह कृष्ण-बहिर्मुखता अनादि है,

क्योंकि वह प्राकृत काल उत्पन्न होनेके पहले ही घटित होती है। अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार रूप अपराध ही उनकी ऐसी अवस्थाका कारण है। उनकी इस दुर्दशाके लिए श्रीकृष्ण पर किसी प्रकारसे दोषारोप नहीं किया जा सकता है; क्योंकि परम कौतुकी कृष्ण जीवोंकी स्वतन्त्रतामें कभी भी हस्तक्षेप नहीं करते। यदि जीव अपनी स्वतन्त्रताका असद्व्यवहार एवं दुरुपयोग करता है, तब कारणार्णवशायी महाविष्णु स्वांग-विशेषाभासरूपसे प्रकृतिका स्पर्श करते हैं, तथा उसी समय प्रकृतिके अन्दर उपरोक्त भगवद् विमुख जीवोंका बीज अर्पण करते हैं (चै. च. म. २०/२७३ संख्या द्रष्टव्य है)। कृष्ण स्वयं प्रकृतिका स्पर्श नहीं करते; बल्कि महाविष्णुके रूपमें प्रकृतिको ईक्षणपूर्वक अपराधी जीवोंको प्रकृतिमें समर्पण करते हैं। तत्पश्चात् माया प्रकृति अपराधी जीवोंको विभिन्न प्रकारके सांसारिक दुःख देकर उन्हें दण्ड प्रदान करती है।

भगवानके अंश दो प्रकारके होते हैं अर्थात् स्वांश और विभिन्नांश हैं। चतुर्व्यूह और अवतार-समूह—ये सब स्वांश-विस्तार हैं। जीव विभिन्नांश हैं। स्वांश और विभिन्नांशमें भेद यह है कि स्वांशगण कृष्ण-तत्त्वके साथ अभिन्न अभिमान द्वारा सदा-सर्वदा सर्वशक्तिसम्पन्न होते हैं तथा कृष्णकी इच्छा ही उनकी इच्छा होती है, उनमें कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। परन्तु विभिन्नांश जीव कृष्णतत्त्वसे नित्य भिन्नाभिमानी होते हैं। अपने क्षुद्र स्वरूपके अनुरूप ही क्षुद्रशक्तिसम्पन्न होते हैं और कृष्णकी इच्छासे उनकी इच्छा पृथक् होती है। कृष्णसे ऐसे अनन्त जीव निकलने पर भी कृष्ण घटते नहीं अर्थात् उनकी पूर्णताकी हानि नहीं होती। जीवोंका कृष्णबहिर्मुखतारूप अपराध मायामें प्रवेश करनेसे पूर्व ही घटित होता है। अतएव मायिक काल प्रारम्भ होनेके पहलेसे अपराधका मूल विद्यमान रहनेके

कारण "अनादि बहिर्मुखता" का प्रयोग होता है। माया संगरूप विकार द्वारा रुद्रदेव भी भेदाभेदस्वरूप हैं, कृष्ण-स्वरूप नहीं हैं। अम्लके योगसे दूध दही हो जाता है। दही, दुग्धके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, फिर भी दहीको दूध नहीं कहा जा सकता है (चै. च. म.२०/३०७-३०९)। श्रीजीव गोस्वामी धृत परमात्मसन्दर्भ, १९ संख्यामें श्रीजामातृ मुनि-प्रदर्शित पद्मोत्तर वचन—

ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः।
न जातो निर्विकारश्च एकरूप-स्वरूपभाक्॥
अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा।
अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः॥
अदाह्योऽच्छेद्योऽक्लेद्य अशोष्याक्षर एव च।
एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै॥

—जीव ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन, अप्राकृत, जन्मरहित, निर्विकार, स्वरूपतः एकरूपविशिष्ट, अणु, नित्य, व्याप्तिशील, चिदानन्दात्मक, अहमर्थ, अव्यय, क्षेत्री, विभिन्नरूप, सनातन, अदाह्य, अच्छेद्य, अशोष्य और अक्षर है। इन सब गुणोंसे युक्त होकर वह भगवान्‌का दासस्वरूप-तत्त्व है।

ज्ञानाश्रय अर्थात् ज्ञानी; ज्ञानगुण अर्थात् ज्ञान ही जिसका गुण है, अप्राकृत अर्थात् प्रकृतिसे परे, जड़ परमाणुसे भी सूक्ष्म, व्याप्तिशील अर्थात् जड़ शरीरमें सर्वत्र व्याप्त, अहमर्थ अर्थात् 'मैं' शब्दवाच्य, क्षेत्री अर्थात् जड़ देहरूपी क्षेत्रका स्वामी, विभिन्नरूप अर्थात् भगवानसे पृथक् एवं अक्षर अर्थात् क्षर-धर्म रहित या नाश रहित या एकरूप रहनेवाला। पञ्चरात्रमें श्रीनारदजीने कहा है—

'यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद्विनिर्गतम्।'

अर्थात् चित् शक्तिसे निकला हुआ चित्‌कण जीव तटस्थ है।

तटस्थ शक्तिको स्पष्ट करते हुए श्रीजीव गोस्वामीजी कहते हैं—

तटस्थत्वञ्च मायाशक्त्यतीत्वात् अस्याविद्या पराभवादिरूपेण दोषेण परमात्मनो लेपाभावाच्च उभयकोटावप्रविष्टेस्तस्य तच्छक्तित्वे सत्यपि परमात्मनस्तल्लेपाभावश्च यथा क्वचिदेकदेशस्थे रश्मौ छायया तिरस्कृतेऽपि सूर्यस्यातिरस्कारस्तद्वत्। (परमात्मसन्दर्भ—३७ संख्या)

तात्पर्य यह है कि तटस्था कही जाने वाली जीवशक्ति मायाशक्तिसे पृथक् है; अतएव वह मायाकी कोटिमें नहीं आती। दूसरी ओर अविद्याके वशीभूत होनेके कारण जीव अविद्यासे सदा निर्लेप रहने वाले परमात्माकी कोटिमें भी परिगणित नहीं होता। परमात्माकी शक्ति होने पर भी अविद्याका लेप परमात्माको उसी प्रकार स्पर्श नहीं करता, जिस प्रकार एकदेशीय सूर्यरश्मि छाया द्वारा आच्छादित होने पर भी सूर्य आच्छादित नहीं होते।

जीव दो प्रकारके हैं—नित्यबद्ध और नित्यमुक्त। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं—

तदेवमनन्ता एव जीवाख्यास्ततटस्थाः शक्तयः। तत्र तासां वर्गद्वयम्। एकोवर्गोऽनादित एव भगवदुन्मुखः अन्यस्त्वनादित एव भगवत्पराङ्मुखः स्वभावतस्तदीय ज्ञानभावात्तदीयज्ञानाभावाच्च। तत्र प्रथमोऽन्तरङ्गा शक्ति विलासानुगृहीतो नित्य-भगवत् परिकररूपो गरुड़ादिकः। अस्य च तटस्थत्वं जीवत्वप्रसिद्धेरीश्वरत्व कोटावप्रवेशात्। अपरस्तु तत्पराङ्मुखत्व-दोषेण लब्धछिद्रयामायया परिभूतः संसारी।

(परमात्मसन्दर्भ, संख्या ४७)

तात्पर्य यह है कि जीव अनन्त हैं। वे दो वर्गोंमें विभक्त हैं—एक वर्ग अनादिकालसे विमुख है, दूसरा वर्ग अनादिकालसे भगवद्-उन्मुख अर्थात् भगवानकी सेवामें तत्पर है। एक भगवत् सम्बन्धज्ञानके अभावके कारण भगवद् विमुख है; तो दूसरा भगवत् सम्बन्धज्ञान

द्वारा भगवदुन्मुख है। भगवदुन्मुख जीव अन्तरङ्गा शक्तिके अनुगृहीत नित्य भगवत्पार्षदवर्ग हैं, जैसे—गरुड़ आदि। वे ईश्वरकी श्रेणीमें नहीं आते—यह शास्त्र प्रसिद्ध है; अतएव तटस्थ हैं। दूसरा वर्ग भगवत्-विमुखताके कारण अन्तरंगा-शक्तिकी सहायतासे वंचित होता है। इसलिए ऐसे जीवोंकी इस कमजोरीको देखकर मायाने उनपर आक्रमण कर, (उन्हें वशीभूत कर) संसाररूपी कारागारमें डाल दिया है। इस विषयमें सिद्धान्त स्वरूप ये निम्नलिखित कारिकाएँ हैं—

चित्सूर्यः परमात्मा वै जीवाश्चित्-परमाणवः।
तत्किरणकणाः शुद्धाश्चास्मदर्थाः स्वरूपतः॥
अचिन्त्य-शक्तिसंभूतः-तटस्थधर्मतः किल।
चित्स्वरूपस्य जीवस्य मायावश्यञ्च सिध्यति॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
इति यद्भगवद्वाक्यं गीतोपनिषदि श्रुतम्।
जीवस्य तेन शक्तित्वे सिद्धे भेदो न सिध्यति॥
जीवो मायावशः किन्तु मायाधीशः परेश्वरः।
एतदाम्नाय-वाक्यात्तु भेदो जीवस्य सर्वदा॥
भेदाभेद-प्रकाशोऽयं युगपज्जीव एव हि।
केवलाभेदवादस्यावैदिकत्वं निरूपितम्॥
मायावशत्व-धर्मेण मायावादो न संभवेत्।
यतो मायाऽपराशक्तिः परया जीवनिर्मितः॥
मायावृत्तिरहङ्कारो जीवस्तदतिरिच्यते।
मायासङ्ग-विहीनोऽपि जीवो न हि विनश्यति॥
मायावाद-भ्रमार्त्तानां सर्व हास्यास्पदं मतम्।
अद्वैतस्य निष्कलस्य निर्लिप्तस्य च ब्रह्मणः॥

प्रतिबिम्बपरिच्छेदौ कथं स्यातां च कुत्रचित्।
अद्वैतसिद्धिलाभेऽपि कथं निर्भयता भवेत्॥
रज्जुसर्प–घटाकाश–शुक्तिरजत–युक्तिषु ।
अद्वैत–हानिरेवस्यादयथोदाहृतेषु वै ॥
ब्रह्मलीला यदा माया तदा तस्याः क्रिया कथम्।
कस्य वा स्पृहया तस्याः प्रवृत्तिरुपजायते॥
ब्रह्मेच्छा यदि तद्हेतुः कुतस्तन्निर्विकारता।
मायेच्छा यदि वा हेतु दुर्भाग्यं ब्रह्मणो हि तत्॥
मायावादमसच्छास्त्रं सर्व वेदविरुद्धकम्।
प्राकृतां युक्तिमाश्रित्य प्रकृतार्थ–विडम्बनम्॥
अचिन्त्यशक्ति विश्वासात् ज्ञानं सुनिर्मलं भवेत्।
ब्रह्मणि निर्विकारे स्यादिच्छा–शक्तिर्विशेषतः॥
तदिच्छासम्भवा सृष्टिस्त्रिधा तदीक्षणश्रुतेः।
मायिका जैविकी शुद्धा कथं युक्तिः प्रवर्त्तते॥
नाहं मन्ये सुवेदेति नोनवेदेति वेद च।
श्रुतिवाक्यमिदं लब्ध्वाऽचिन्त्यशक्तिं विचारय॥
भेदवाक्यानि लक्ष्याणि द्वासुपर्णादि सूक्तिषु।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु चाभेदत्वं प्रदर्शितम्॥
सर्वज्ञवेद–वाक्यानां विरोधो नास्ति कुत्रचित्।
भेदाभेदात्मकं तत्त्वं सत्यं नित्यञ्च सार्थकम्॥
एकदेशार्थमाश्रित्य चान्यदेशार्थ–कल्पनम्।
मतवादप्रकाशार्थ श्रुतिशास्त्र–कदर्थनम्॥
कर्म–मीमांसकानां यद्विज्ञानं श्रुतिनिन्दनम्।
मूर्खत्वमेव तेषां तत् न ग्राह्यं तत्त्वविज्जनैः॥

विभिन्नांशे हि जीवोऽयं तटस्थशक्ति–कार्यतः।
स्व–स्वरूप भ्रमादस्य माया–कारागृह–स्थितिः॥

परमात्मा चित्–सूर्य हैं। जीवसमूह उनके किरणोंमें विचरण करनेवाले परमाणु स्थानीय हैं। जीवका स्वरूप विशुद्ध चिन्मय है। जीव स्वरूपतः अहं—पदवाच्य हैं। परमात्माकी अचिन्त्य शक्तिसे निःसृत तटस्थ शक्तिसे प्रकटित जीवका धर्म भी सर्वदा तटस्थ होता है। साथ ही अणु होनेके कारण वह स्वरूपतः मायाके अधीन होने योग्य धर्मवाला भी होता है। "अपरेयमितः" श्लोक द्वारा भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने यह शिक्षा दी है कि जीव मायासे परे पराशक्ति है। अतएव परमात्मासे उसका नितान्त भेद या नितान्त अभेद नहीं है। जीव मायावश है तथा ईश्वर मायाधीश हैं—इस आम्नाय वाक्यसे यह स्पष्ट है कि जीव ईश्वरसे नित्य भिन्न तत्त्व है। अतएव जीवका ईश्वरसे युगपत् अभेद और भेद दोनों ही श्रुतिसिद्ध है। केवलाभेदवाद या केवलाद्वैतवाद अवैदिक है।

मायावश कहनेसे मायावाद नहीं होता। मायावाद मतके अनुसार जीव माया द्वारा परिच्छिन्न या प्रतिबिम्बित एक अनित्य तत्त्व है। मायावश कहनेसे यह स्थिर होता है कि चित्कण जीव अपने अणुत्वके कारण मायाद्वारा पराभूत होने योग्य है। माया अपराशक्ति है; परन्तु जीव पराशक्ति द्वारा निर्मित है। जड़–अहंकार मायाकी वृत्ति है। जीव उससे परे अर्थात् चिन्मय पदार्थ है। मायामुक्त होने पर भी जीवका जीवत्व नष्ट नहीं होता। मायावाद एक भ्रम है। ऐसे भ्रममें पड़े हुए लोगोंका मत सर्वतोभावसे हास्यास्पद है। उनके मतानुसार ब्रह्म अद्वैत, निष्कल और निर्लेप है। यदि इस सिद्धान्तको मान लिया जाय, तो फिर प्रतिबिम्ब या परिच्छेद किसका और कैसे सम्भव हो सकता है?

पुनः अद्वैत-सिद्धिमें जीवकी निर्भयता कैसे हो सकती है? अद्वैतवादी जो रज्जुमें सर्प-भ्रम, घटाकाश, शुक्तिमें रजत-भ्रम आदि उदाहरण दिया करते हैं, वे निरर्थक ही होते हैं, क्योंकि उन उदाहरणोंसे अद्वैतकी सिद्धि होना तो दूर रहा, अद्वैतका खण्डन ही होता है। यदि मायाको ब्रह्मकी लीला-प्रकृति मानते हैं, तो भी केवल-अद्वैतता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि एक ब्रह्म और दूसरी माया—ये दो तत्त्व हो पड़ते हैं। तथापि युक्तिके लिए इसे मान भी लिया जाय, तो उक्त मायासे क्रिया कैसे सम्भव है? किसकी इच्छासे माया क्रियावती होती है? यदि ब्रह्मकी इच्छासे ही माया क्रियावती होती है, तो फिर ब्रह्म निर्विकार कहाँ रहा? यदि ब्रह्मको निर्विकार मानकर मायाकी इच्छाको स्वीकार किया जाता है, तो निष्क्रिय ब्रह्मका प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरा तत्त्व उठ खड़ा होता है और यह दूसरा तत्त्व इच्छाहीन ब्रह्मको परिच्छिन्न और प्रतिबिम्बित कर डालता है। जो ब्रह्मको परिच्छिन्न और प्रतिबिम्बित कर डालता है, जो ब्रह्मके लिए अत्यन्त दुर्भाग्यकी बात होगी। यदि ब्रह्म ईश्वर होकर सृष्टि करते हैं—ऐसा कल्पित मत माना जाय, तो भी ब्रह्ममें स्वतन्त्र-इच्छाके अभावके कारण ब्रह्म शक्तिके वशीभूत होनेवाले तत्त्व ठहरते हैं—यह भी उनके लिए दुर्भाग्यकी ही बात है। अतएव मायावाद असत्-शास्त्र तथा सर्ववेद-विरुद्ध है। इस मतमें प्राकृत युक्तियों द्वारा वेदके अप्राकृत अर्थोंकी केवल विडम्बनामात्र लक्षित होती है।

भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति माननेसे ज्ञान सुनिर्मल हो जाता है। ब्रह्ममें अद्वैत, निष्कल और निर्विकार—ये धर्मसमूह जिस प्रकार स्वीकृत हैं, उसी प्रकार उनमें अचिन्त्य शक्ति स्वीकृत होने पर उसके द्वारा निर्विकारिता और इच्छामयता—ये दोनों ही युगपत् ब्रह्ममें सुन्दर रूपसे वर्तमान रहकर अविरोध रूपसे कार्य करती हैं। "स ऐक्षत्"—इस

वेद मन्त्रसे ऐसा स्पष्ट है कि परमेश्वरकी इच्छासे ही अचिन्त्य शक्ति जड़-जगत, जीव-जगत और चित्-जगत—इन तीन प्रकारकी सृष्टि करती है। 'नाहं मन्त्रे'— श्रुति-मन्त्रमें भगवान्‌में अचिन्त्यशक्ति स्वीकृत हुई है। "द्वा सुपर्णा" आदि श्रुतिमन्त्रोंमें नित्य भेद और "तत्त्वमसि" मन्त्रमें नित्य अभेद दिखलाया गया है। सर्वज्ञ-वेदवाक्योंमें कहीं भी विरोध नहीं है।

अतएव वेदका सर्वाङ्गीण मत यह है कि युगपत् अचिन्त्यभेदाभेद-स्वरूप-तत्त्व ही सत्य है, नित्य है तथा सार्थक है। वेदका एकदेशीय अर्थ ग्रहण कर मतवाद प्रकाश करनेके लिए अन्य श्रुतिमन्त्रोंका खींच-खाँचकर अपने मतके अनुकूल अर्थ करना श्रुतिमन्त्रोंका कदर्थ करना है। कर्म-मीमांसकोंकी श्रुतियोंके प्रति अश्रद्धा उनकी मूढ़ता है। उसे पण्डितजन स्वीकार नहीं करते। अतएव वेद-सिद्धान्त यह है कि ईश्वर कोटिसे पृथग्भूत विभिन्नांश तत्त्वरूप जीव कृष्णकी तटस्था शक्ति हैं। जीव शुद्ध पदार्थ है तथा स्वभावतः कृष्णके प्रति आनुगत्य धर्मयुक्त होता है। यही जीवका स्वरूप-तत्त्व ज्ञान है। इस स्वरूप ज्ञानको भूलनेसे ही जीव माया-कारागारमें पड़ा हुआ है।

सप्तम परिच्छेद
तटस्थ-धर्मवशतः बद्ध दशामें जीव मायाग्रस्त है

जीवके तटस्थ-धर्मके सम्बन्धमें पूर्व-परिच्छेदमें बतलाया गया है। उसी तटस्थ-धर्मके कारण जीवके भगवत् ज्ञानके अभावमें निकटस्थ माया उसे भव-बन्धनमें जकड़ लिया है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

नित्यबद्ध कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्य संसार भुञ्जे नरकादि दुःख॥
सेइ दोषे माया पिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रय तारे जारि मारे॥
काम क्रोधेर दास हञा तार लाथि खाय।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय॥
तार उपदेश मन्त्रे पिशाची पलाय।
कृष्णभक्ति पाय, कृष्ण-निकटे जाय॥

(म. २२/१२-१५)

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास होने पर भी अपने तटस्थधर्मवशतः अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके जब कृष्णसे विमुख हो पड़ता है, तब वह संसारमें स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुःखोंका भोग करता है। कृष्ण-विमुखताके दोषके लिए ही माया-पिशाची जीवको स्थूल और लिंग-शरीरके आवरणमें बाँधकर दण्ड प्रदान करती है अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रितापोंसे दग्ध करती है। इस प्रकार जीव काम-क्रोध आदि षड्रिपुओंके वशीभूत होकर माया-पिशाचीकी लातें खाता रहता

है—यही जीवका रोग है। इस प्रकार वह संसारमें उच्च एवं नीच योनियोंमें भ्रमण करते-करते यदि सौभाग्यवश साधु-वैद्यको पा लेता है, तब उनके उपदेशोंसे मायादेवी उस जीवको छोड़कर उसी प्रकार भाग जाती है, जिस प्रकार किसी ओझा या वैद्यके मन्त्रोंसे कोई पिशाची किसी मनुष्यको छोड़कर भाग जाती है। मायासे रहित ऐसा जीव ही कृष्णभक्ति प्राप्तकर कृष्णके निकट जानेका अधिकारी होता है।

बद्धजीवके सम्बन्धमें श्वेताश्वतर उपनिषदमें भी ऐसा कहा गया है—

बालाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः न चानन्त्याय कल्पते॥

(५/९)

तात्पर्य यह है कि जीव जड़ शरीरमें अवस्थित होनेपर भी सूक्ष्म और अप्राकृत तत्त्व है। जड़ीय बालकी नोंकके सौ टुकड़े कर पुनः उनमेंसे एक टुकड़ेके सौ टुकड़े करने पर उनमेंसे एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उससे भी जीव अधिक सूक्ष्म होता है। इतना सूक्ष्म होनेपर भी जीव अप्राकृत वस्तु है तथा आनन्त्यधर्मके योग्य होता है अर्थात् असीम होनेमें समर्थ है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

(श्वे. ५/१०)

यह जीवात्मा वास्तवमें न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। जब यह जीव शरीरको ग्रहण करता है, उस समय वह स्थूल शरीर ही स्त्री-पुरुष और नपुंसकके रूपमें दिखलायी पड़ता है। अपने कर्मोंके फलस्वरूप जीव जिस शरीरको प्राप्त करता है, उसीमें वह

रहता है और उस शरीरको ही स्त्री–पुरुष या नपुंसक कहता है। तात्पर्य यह कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद स्थूल शरीरको लेकर हैं। जीवात्मा वस्तुतः आत्मगत वस्तु है। बाह्य दर्शनसे स्त्री–पुरुष होनेपर भी जड़ शरीरका परिचय उसका निजी परिचय नहीं है—

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै–
ग्रासाम्बुवृष्टयात्म विवृद्धजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते॥

(श्वे. ५/११)

संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, भोजन, जलपान और वृष्टि—इन सबसे (बद्ध) जीवके स्थूल शरीरका जन्म और वृद्धि होती है। यह जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिए विभिन्न लोकोंमें गमन करता हुआ एकके बाद एकके क्रमसे नाना शरीरोंको बार–बार धारण करता रहता है।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देहो स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥

(श्वे. ५/१२)

जीव अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारसे, गुणोंसे, शरीरके गुणोंसे युक्त होकर तथा “मैं और मेरा” आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर नाना प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार करता है—अपने कर्मानुसार भिन्न–भिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। क्रिया, गुण और आत्मगुण द्वारा पुनः दूसरे रूपसे आच्छादित होता है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वे. ५/१३)

ऐसा मायाबद्ध जीव इस दुर्गम संसारमें पतित दशामें सौभाग्यवश कभी सत्संगके प्रभावसे श्रद्धा प्राप्त होकर भक्तिवृत्ति द्वारा अनादि–अनन्त अवतारोंके बीजस्वरूप विश्वमध्यगत विश्वस्रष्टा परमात्माको जब जान लेता है, तब वह मायाके समस्त बन्धनोंसे सदाके लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

श्रीआम्नायसूत्रमें जीवकी बद्ध–दशाका क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

"परेश–वैमुखात्तेषामविद्याभिनिवेशः।" —(३५ सूत्र)

"स्व–स्वरूप–भ्रमः।" —(३६ सूत्र)

"विषमकामः कर्मबन्धः।" —(३७ सूत्र)

"स्थूल–लिङ्गाभिमान–जनित–संसारक्लेशाश्च।"–(३८ सूत्र)

अर्थात्–परमेश्वरसे विमुख होनेके कारण जीवोंका अविद्यारूप द्वितीयाभिनिवेश हुआ है॥३५॥

उसीसे उनका स्वरूप–भ्रम हुआ है॥३६॥

स्वरूप–भ्रमके कारण ही वे भयङ्कर काम्य–कर्मके बन्धनमें पड़े हुए हैं॥३७॥

स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें आत्मबुद्धि ही संसार क्लेशका कारण है॥३८॥

जीव चिद् वस्तु हैं। वे चित् और जड़के सन्धि (मिलन) स्थल पर तटस्था शक्ति द्वारा प्रकटित होकर उसी स्थानसे चित् जगत और

मायिक जगत, दोनोंको ही देखने लगे। उनमेंसे जिन जीवोंने भगवत् ज्ञानके प्रति आकृष्ट होकर चित् जगतमें जाना चाहा, वे नित्य भगवद्-उन्मुखताके कारण चित् शक्तिकी विलासगत ह्लादिनीका बल पाकर कृष्णपार्षदके रूपसे चित् जगतमें लाये गये तथा जो जीव अपनी इच्छासे दूसरी ओर स्थित मायाकी ओर देखकर मोहित हुए और मायाका भोग करनेके लोभसे उधर ही जाना चाहा, उनको मायाधीश कारणार्णवशायी पुरुषावतारने जड़ जगतमें पहुँचा दिया (छठे परिच्छेदमें देखिये)। ऐसा होनेका कारण एकमात्र जीवोंकी भगवत् विमुखता ही है। मायाके फंदेमें आते ही मायाकी वृत्ति अविद्याने जीवको आच्छादित कर दिया, जिससे जीव अविद्याके बन्धनरूप कर्मके चक्करमें पड़ गया। इसी स्थल पर उसकी तुलना कर्मफलका भोग करनेवाले पक्षीसे हुई है (मुण्डक ३/१/१ और श्वेताश्वतर ४/६ मन्त्रमें देखिये)।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

क्षीरोदशायी पुरुष और जीव इस अनित्य जगत्‌रूप पीपलके पेड़पर दो मित्रों (सखाओं) की भाँति निवास कर रहे हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मोंके अनुसार पीपलके फलोंका आस्वादन करने लगा और दूसरा अर्थात् परमात्मा फलका भोग न कर साक्षीके रूपमें केवल देखने लगे। मुण्डक (३/१/२) तथा श्वेताश्वतर (४/७) में कहा गया है—

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः॥"

अर्थात् उस एक ही वृक्षपर निवास करनेवाला जीव मायामोहित होकर शोक करते-करते पतित हुआ।

श्रीमद्भागवत (११/२/३७) में भी कहा गया है—

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः॥"

जब जीव ईश-ज्ञानसे विमुख होता है, तभी द्वितीय वस्तु रूप मायिक अविद्याके प्रति उसका अभिनिवेश (गाढ़ मनोयोग) हो जाता है। इसी द्वितीयाभिनिवेशके कारण ही जीवका संसार-भय, देहमें आत्मबुद्धि और स्वरूप-भ्रम (विस्मृति) हुआ है। विपर्ययका तात्पर्य है—स्व-स्वरूपका भ्रम। यही अविद्याका सबसे पहला फल है। इसीसे चित् स्वरूपको भूलनेपर जड़गत स्थूल-सूक्ष्म शरीरके प्रति "मैं" की बुद्धि प्रबल होकर अपने शुद्ध स्वरूपगत कृष्णदासत्वकी विस्मृति गाढ़ी हो जाती है। माया जीवके चित्स्वरूपके ऊपर लिंग या सूक्ष्म शरीर और पुनः उसके भी ऊपर स्थूल शरीर—ये दो आवरण डाल देती है। मायिक अहंकार, मायिक चित्त, मायिक बुद्धि और मायिक मन—इन चार सूक्ष्म-एवं जड़ तत्त्वों द्वारा लिङ्ग देह गठित हुआ है। इसी शरीरमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन षड्रिपुओंका निवास होता है। ये छः कभी पुण्य और कभी पापमय होकर जीवोंकी भली और बुरी वासनाओंके कारण बनते हैं। लिङ्ग शरीरमें जो "मैं" का अहङ्कार होता है, उससे जीवका शुद्ध चिद् अहंकार आच्छादित हो पड़ा है। परन्तु लिंग शरीरसे न तो कर्म होता है और न भोग ही; इसलिए सूक्ष्म शरीरके ऊपर हाड़, चाम, खून, मांस, मज्जा, मेद और शुक्र—सप्त धातुओंसे निर्मित एक स्थूल शरीर होता है। इस शरीरमें जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, क्षय एवं मृत्यु—ये छः विकार होते हैं। स्थूल शरीरको पाकर जीवका जड़ अहङ्कार और भी घनीभूत हो जाता है। तब वह स्थूल शरीरको ही 'मैं' समझने लगता है। इस प्रकार स्व-स्वरूप भ्रमसे विषम काम्यकर्मबन्धन ही वर्णाश्रमबद्ध विधि द्वारा कर्म, अकर्म और विकर्म तथा नित्य-नैमित्तिक और काम्यकर्म और उनके फल पुण्य और

पाप—ये सब बन्धन जीवको दृढ़रूपसे मायिक कर डालते हैं। स्थूल-लिंग शरीरोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारके अनर्थ उत्पन्न होते हैं। वृहदारण्यकमें कहा गया है:—

स वा अयमात्मा यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति। पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणाभवति पापः पापेन। (४/४/५ ब्राह्मण)

अर्थात् वह या यह (स्थूल-लिंग शरीरधारी) आत्मा जैसा-जैसा आचरण करता है, वैसी-वैसी अवस्थाको प्राप्त होता है। साधु आचरणसे साधु और पापाचरणसे पापी हुआ करता है। पुण्यकर्मसे पुण्य और पापकर्मसे पाप होता है।

श्रीमद्भागवत (३/३०/७)में भी कहते हैं—

स दह्यमान-सर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढ़ो दुरितानि दुराशयः॥

—कुटुम्बके भरण-पोषण करनेकी चिन्तामें दुराशय मूढ़ व्यक्ति सिर-से-पैर तक सदा जलता रहता है; अतएव वह पापाचारमें प्रवृत्त होता है।

इन दोनों कथनोंका अर्थ स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि जीव स्थूल और लिंग अभिमानके कारण संसारमें आबद्ध होकर पापपुण्य द्वारा दुःख-कष्ट पा रहे हैं। भगवत्-सन्दर्भधृत सर्वज्ञसूक्तमें कहते हैं—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द-ईश्वरः।
स्वाविद्या-संवृतो जीवः संक्लेश-निकराकरः॥

—सच्चिदानन्द परमेश्वर ह्लादिनी और सम्वित् शक्ति द्वारा आलिङ्गित-विग्रह हैं। जीव अपनी अविद्यासे आच्छादित होकर संसारमें नाना-प्रकारके दुःखोंका भोग करता है।

श्रीजीव गोस्वामी परमात्म सन्दर्भमें कहते हैं—

अथाविद्याख्यस्य भागस्य द्वे वृत्ती आवरणात्मिका विक्षेपात्मिका च। तत्र पूर्व जीव एव तिष्ठन्ती तदीयं स्वाभाविकं ज्ञानमावृण्वाना। उत्तरा च तं तदन्यथाज्ञानेन सञ्जयन्ती वर्त्तते॥५४॥

तात्पर्य यह है कि माया शक्तिकी दो वृत्तियाँ हैं—विद्या और अविद्या। विद्यावृति मायाकी अकपट कृपासे उत्पन्न होती है। अविद्या वृत्ति मायाकी उस शक्तिको कहते हैं जिसके द्वारा वह दोषी जीवोंको दण्ड प्रदान करती हैं। अविद्याकी भी वृत्तियाँ होती हैं—आवरणात्मिका और विक्षेपात्मिका। जीवके स्वाभाविक सम्बन्ध ज्ञानको ढकने वाली अविद्यावृत्तिको आवरणात्मिका वृत्ति कहते हैं तथा अविद्याकी वह वृत्ति, जो जीवके स्वाभाविक सम्बन्धज्ञानके विपरीत अन्य प्रकारका ज्ञान उत्पन्न कर जीवको अज्ञान करती है, उसे विक्षेपात्मिका वृत्ति कहते हैं। इस विषयमें निम्नलिखित कारिकाएँ हैं—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
इत्याद्युपनिषद्वाक्यान्निर्गुणो जीव एव हि॥
चेतनः कृष्णादासोऽहमिति ज्ञाने गते परे।
प्रकृतेर्गुण-संयोगात् कर्मबन्धोऽस्य सिध्यति॥
कर्मचक्र-गतस्यास्य सुख-दुःखादिकं भवेत्।
षड्गुणाब्धि निमग्नस्य स्थूल-लिंग व्यवस्थितः॥

वेद कहते हैं कि सत्त्व, रज और तम—ये तीन अपरा या जड़ा प्रकृतिके गुण हैं। जीव स्वभावतः निर्गुण हैं। परन्तु क्षुद्रताके कारण भगवद् विमुखता द्वारा जब वे दुर्बल हो जाते हैं, तभी मायाके गुण प्रबल होकर उसे पराजित कर देते हैं। तब "मैं चेतन पदार्थ हूँ तथा कृष्णदास हूँ" यह ज्ञान आच्छादित होनेपर प्राकृत गुणोंके संयोगसे जीवोंका कर्म-बन्धन सिद्ध हुआ। इस प्रकार कर्म-चक्रमें पड़े हुए

जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीरों द्वारा षड् गुणरूपी समुद्रमें गिर पड़ता है तथा उसमें डूब जानेपर सांसारिक सुख-दुःखका उदय होता है। यही जीवकी बद्धावस्था या मायाग्रस्थावस्था है। यह दुरवस्था जीवके गठनसिद्ध तटस्थधर्मके कारण होती है। जीव शुद्ध चेतन वस्तु है। मायावृत्ति अविद्या उसकी उपाधि है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—यह त्रिताप उसी उपाधिका फल है।

अष्टम परिच्छेद
तटस्थ-गठनवशतः जीव मुक्तदशामें मायामुक्त होता है

मायासे मोहित होकर अनादि कर्मवासनाकी जंजीरमें बँधा रहने पर भी जीवका अपना तटस्थ गठन और धर्म नष्ट नहीं होता। इस अवस्थामें निसर्गजनित (बदले हुए स्वभावके कारण) मायिक संस्कार प्रबल होने पर भी जीवका लुप्तप्राय चेतन स्वभाव—जो कृष्ण दास्य है, वह अवश्य ही विद्यमान रहता है। यह लुप्तप्राय स्वभाव अर्थात् कृष्णदास्य थोड़ासा सुयोग पानेसे ही पुनः प्रकट हो पड़ता है तथा अपना परिचय प्रदान करता है। यह सुयोग है—केवल साधुसङ्ग।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर उ.)

जिनकी श्रीकृष्णके प्रति पराभक्ति अर्थात् शुद्धाभक्तिके अधिकार स्वरूपा श्रद्धा हुई है तथा साधु एवं गुरुके प्रति भी ठीक उसी प्रकारकी श्रद्धा है, उन्हीं महात्माओंके हृदयमें वेदका यथार्थ तात्पर्य प्रकाशित होता है।

संसार भ्रमिते कोन भाग्ये केह तरे।
नदीर प्रवाहे येन काष्ठ लागे तीरे॥
कोन भाग्ये कारो संसार क्षयोन्मुख हय।
साधुसङ्ग करे, कृष्णे रति उपजय॥
साधुसङ्ग, साधुसङ्ग—सर्वशास्त्रे कय।
लव मात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय॥

'कृष्ण तोमार हउ' यदि बले एकबार।
मायाबन्ध हैते कृष्ण तारे करेन पार॥

(चै. च. म. २२/४३-४५, ५४, ३३)

तात्पर्य यह कि कृष्णसे विमुख होने पर जीव संसारमें त्रिविध तापोंसे दग्ध होता हुआ चौरासी लाख प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ जन्म-मरणके प्रवाहमें बहने लगता है। इस प्रवाहसे उद्धार पाना बड़ा ही कठिन है। बड़े सौभाग्यसे ही जीव साधुसङ्गका आश्रय पाकर इस प्रवाहसे छुटकारा पाकर पुनः कृष्णदास्य-रूप स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदीके तीक्ष्ण प्रवाहमें बहती लकड़ी सौभाग्यवश तीर पर जा लगती है। जब सौभाग्यसे किसीका संसारप्रवाह क्षयोन्मुख होता है, तभी वह साधुसंग करता है और उसके फलस्वरूप उसकी श्रीकृष्णके चरणोंमें रति उदित होती है। इसीलिए सभी शास्त्रोंमें साधुसङ्गकी महिमाका वर्णन प्रचुर रूपमें पाया जाता है। शास्त्रोंका कथन है कि क्षणभरका साधुसङ्ग भी सर्वसिद्धिको प्रदान कर सकता है। परन्तु यह सत्सङ्ग सहज ही प्राप्त नहीं होता। यदि कोई जीव अत्यन्त कातर होकर हृदयसे एक बार भी कृष्णसे ऐसी प्रार्थना करता है कि 'हे कृष्ण! मैं तुम्हारा हूँ', तो कृष्ण साधुसंग प्रदान कर उसे मायाके बन्धनसे पार कर देते हैं।

बड़े भाग्यसे जब किसीका संसार क्षयोन्मुख होता है, तभी वह साधुसंग करता है। अब प्रश्न यह है कि वह 'भाग्य' क्या है? यदि भाग्यको ही संसार क्षयका कारण माना जाता है, तब श्रद्धा या साधुसंगको परम कल्याणका हेतु क्यों कहा जाता है? भाग्य तो एक अन्धी घटन है, जो बिना किसी वर्तमान चेष्टा द्वारा संयोगसे यों ही घट जाती है। यदि इस प्रकारके भाग्यको ही जीवोंके परम मंगलका

एकमात्र हेतु माना जाता है, तब जीव अपने कल्याणके लिए जो चेष्टा या साधन करते हैं उसका महत्व ही क्या रहा? इस प्रकार तो उनकी वैसी चेष्टा व्यर्थ हो पड़ती है। परन्तु बात ऐसी नहीं। इस विषयमें यथार्थ सिद्धान्त क्या है? यह जाननेके लिए हमें सर्वप्रथम जीवतत्त्वके मूलके प्रति दृष्टिपात करना होगा। जीवका स्वभाव जिस समय गठित हुआ, उस समयका कर्मकर्त्ता केवल ईश्वर ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं। इस जीवके चित्स्वभाव या चिद्धर्मके गठनमें ही स्वतन्त्रता ग्रथित है। इसलिए गठन-कर्त्तृत्व-सम्बन्ध गठनके साथ ही रहा अर्थात् उसका सम्बन्ध आदिकर्त्ता ईश्वरके साथ है, परन्तु उसके पश्चात् जो सब कार्य होंगे, उनका सम्बन्ध अब आदिकर्त्ता ईश्वरके साथ नहीं होता। स्वातन्त्र्यपूर्ण जीव सबसे पहले या तो 'भगवदुन्मुख' होता है अथवा 'भगवद् विमुख'। यही जीवका पहला कार्य होता है। इसीमें जीवका मुख्य कर्त्तृत्व होता है। इस कार्यके समय उसको फलदानकी क्रियामें ईश्वरका अनुसंग कर्त्तृत्व रहता है। फिर अविद्यामें प्रवेश करनेके पश्चात् कर्त्तृत्व तीन प्रकारका हो जाता है। (१) जीव जो कुछ करता है, उसमें सर्वदा जीवका ही मूलकर्त्तृत्व होता है। (२) उन कार्योंमें प्रकृति जो सहायता करती है, उससे प्रकृतिका 'गौण-कर्त्तृत्व' है। (३) उन कर्मोंका फल प्रदान करनेमें ईश्वरका अनुसंग-कर्त्तृत्व है। जीवने स्वेच्छापूर्वक अविद्या-अभिनिवेशका वरण किया है। इसलिए उसका मूल कर्त्तृत्व कभी भी लुप्त नहीं होता। अविद्यामें प्रवेश करने पर जीव जो कुछ कर्म करता है, वे सब फलोन्मुख होने पर भाग्यके नामसे परिचित होते हैं। नास्तिकोंकी आकस्मिक घटनाकी भाँति आस्तिकोंका भाग्य अविचारपूर्ण नहीं है। जीवका भाग्य उसके पूर्वकर्मोंका ही फल है। कर्म दो प्रकारके होते हैं—पारमार्थिक और आर्थिक। आर्थिक कर्मसे आर्थिक भाग्योदय

होता है तथा पारमार्थिक कर्मसे पारमार्थिक भाग्योदय होता है। परमार्थको लक्ष्य करके जो कर्म होते हैं, वे कर्म-समूह पारमार्थिक हैं, जैसे—साधुसेवा, भगवन्नाम और भगवत्-सेवा। जीव किसी भी प्रवृत्तिसे क्यों न हो, यदि इन कर्मोंको करता है, तो ये कर्मसमूह उस जीवके अन्दर भक्ति-वासनारूप एक प्रकारके संस्कारको उत्पन्न करते हैं। उसी संस्कारके क्रमशः पुष्ट होनेपर जीवकी संसार-वासना क्रमशः दुर्बल होती जाती है। जब संसार-वासना अत्यन्त दुर्बल हो पड़ती है, तब वही सौभाग्यसंस्कार अधिकतर पुष्ट होकर साधु-संगके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। यह श्रद्धा पुनः साधुसंग सुलभ करा कर उसके द्वारा सम्पूर्ण सिद्धि प्रदान करती है। उस सौभाग्यका क्रमविकास श्रीमद्भागवतमें श्रीनारद-चरित्रके प्रसंगमें इस प्रकार बतलाया गया है—

अहं पुरातीत-भवेऽभवं मुने,
दास्याश्च कस्याश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनां,
शुश्रुषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥
उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥
तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः,
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः॥

(भा. १/५/२३, २५, २६)

नारदजी बोले—व्यासजी! मैं पूर्व कल्पमें किसी दासीका पुत्र था। बचपनमें ही मुझे कुछ वेदवादी भक्तियोगियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया गया था। वे योगी वर्षा-ऋतुमें एक स्थान पर चातुर्मास्य करते थे। मेरी माता उन योगियोंकी दासी होनेके कारण मैं उन भागवतोंके बर्तनोंमें लगा हुआ जूठन एक बार खा लिया करता था। इसमे मेरे सारे पाप धुल गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और वे जिस प्रकारसे परमेश्वरका भजन-पूजन करते थे, उसीमें मेरी भी रुचि हो गयी। उस सत्संगमें उन भगवत्-लीला-कथा-परायण महात्माओंके अनुग्रहसे मैं प्रतिदिन श्रीकृष्णकी मनोहर कथाएँ सुना करता। श्रद्धापूर्वक एक-एक पद श्रवण करते-करते प्रियकीर्त्ति भगवान्में मेरी रुचि हो गयी।

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत् काले तड़ित्-सौदामिनी यथा॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्ध कर्म-निर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥

(भा. १/६/२८-२९)

हे व्यासजी! इस प्रकार भगवान्की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया, आसक्ति मिट गयी और मैं श्रीकृष्णपरायण भक्त हो गया, कुछ समय बाद हठात् मेरी मृत्यु आ गयी। उस समय मेरा पाँचभौतिक शरीर नष्ट हो गया तथा शुद्धा भागवती तनु (पार्षद शरीर) प्राप्त हो गया।

अब सिद्धान्त यह है कि जन्म-जन्मान्तरोंकी सुकृतिके फलस्वरूप भाग्यके उदय होनेपर साधुसंगके प्रति श्रद्धा होती है। उस श्रद्धाके फलस्वरूप क्रमशः भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्तिके पश्चात् कृष्ण-रतिका प्रादुर्भाव होता है, जिस जीवनमें भाग्योदय

होता है, उसी जीवनमें श्रद्धा लक्षित होती है। इसीलिए श्रद्धा और साधुसंगको निखिल कल्याणकी जड़ कहा जाता है। इस विषयमें यह कारिका है—

एवं पञ्जरबद्धोऽयं जीवः शोचति सर्वदा।
कदाचित् सत्प्रसङ्गेन तस्य मोक्षो विधीयते॥

स्थूल-लिंग इन दो शरीरोंने पिंजड़ेके रूपमें होकर चिन्मय जीवको अपने अन्दर बन्द कर रखा है। इस दशामें जीव सदा-सर्वदा शोक करता है। हठात् किसी समय भाग्यवश उसको साधु-संग प्राप्त होता है। इस साधु-संगमें सत्कथा प्रसंगसे उनकी माया दूर होती है अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीररूपी पिंजड़ेसे सदाके लिए वह मुक्त हो जाता है।

मुक्त-बद्धदशाभेदाच्चैतन्यस्य दशाद्वयम्।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥
अत्यन्तदुःखहानौ सा चित्सुखाप्तिर्न संशयः।

जीवकी दो अवस्थाएँ हैं—मुक्त और बद्ध। अन्यथारूप अर्थात् विरूप अवस्थाका परित्याग कर स्वरूपमें अवस्थितिका नाम मुक्ति है। मुक्तिमें आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति एवं चिदानन्दकी प्राप्ति होती है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

श्वेताश्वतर (४/७) में—

'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः।'

जब जीव अपने सेवनीय परमेश्वरका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह शोकरहित होकर अपनी कृष्णदास्यरूपी महिमाको प्राप्त करता है। मुक्त-बद्ध दशाओंके भेदसे जीवकी दो अवस्थाएँ हैं। मुक्तजीव भी दो प्रकारके होते हैं—नित्यमुक्त और मायामुक्त। नित्यमुक्त जीव कभी भी मायाके बन्धनमें नहीं पड़े। मायामुक्त जीव

मायाके बन्धनमें पड़े तो थे; परन्तु सत्प्रसंगके प्रभावसे मायाके बन्धनसे मुक्त होकर चिद्विलासमें प्रविष्ट हुए हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि मुक्तिका स्वरूप क्या है? किसी-किसीका कहना है—(१) जीवके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिका नाम ही मुक्ति है। कुछ लोग कहते हैं—(२) ब्रह्म-सायुज्य या ईश्वरसायुज्यका नाम ही मुक्ति है। परन्तु जो सर्वज्ञ हैं, उनके मतानुसार मुक्तिकी परिभाषा यह है—

'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।'

(भा. २/१०/६)

जीव चित्स्वरूप है; वह शुद्ध कृष्णदास है। अविद्यामें प्रवेश करना उसके लिए विरूपता है। उस विरूपताका परित्याग करके स्वरूपमें अवस्थितिका नाम ही मुक्ति है। स्वरूपव्यवस्थितिका ज्ञान अत्यन्त अस्फुट (संकुचित) रहने पर सायुज्यभाव और पूर्ण प्रस्फुटित होनेपर शुद्ध-कृष्णदास्यकी प्राप्ति होती है। केवल दुःख-निवृत्तिको मुक्ति नहीं कहा जा सकता। दुःखनिवृत्ति होनेपर चित्सुखकी प्राप्ति होनेसे ही मुक्तिका लक्षण पूर्ण होता है। छान्दोग्य उपनिषद्में मुक्तिका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। सः उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीड़न् रममाणः। (छा. ८/१२/३)

जो जीव मुक्ति प्राप्त करके इस स्थूल और सूक्ष्म शरीरसे समुत्थित होकर चिन्मय ज्योति सम्पन्न अपने चिन्मय अप्राकृतस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, वही उत्तम पुरुष है। वह उस चिद्धाममें भोग, क्रीड़ा और आनन्द-संभोग आदिमें निमग्न होता है। वेदके मतानुसार ऐसी मुक्ति ही चरम मुक्ति है। जीव मुक्त होनेपर जिन आठ अवस्थाओंको प्राप्त करता

है, छान्दोग्यमें उनका वर्णन किया गया है—

आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः।

(८/७/१ और ३ ब्राह्मण)

'आत्मा'—अपहत-पाप अर्थात् मायाकी अविद्या आदि पापवृत्तियोंसे सम्बन्धरहित है। विजर=जरा-धर्मरहित नित्यनवीन है। विमृत्यु=पतनरहित है। विशोक=सम्पूर्ण शान्त अर्थात् आशा-शोक-दुःख आदिसे रहित। विजिघत्स=भोगवासना रहित—अन्याभिलाषशून्य, केवल प्रियतमकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी न चाहना। सत्यकाम=कृष्णसेवोपयुक्त समस्त निर्दोष कामनाओंवाला। सत्यसंकल्प—जो इच्छा करते हैं, वही सिद्ध होती है। बद्धजीवमें ये आठ धर्म नहीं रहते। बद्ध और मुक्त जीवका यह भेद सब शास्त्रोंसे छानबीन कर जानना चाहिए।

मुक्ति इतनी उपादेय होनेपर भी वह जीवकी चरम प्राप्तिरूप भगवत्-सेवा-सुखको केवल प्राप्त करानेवाली है, स्वयं चरम प्राप्ति-स्वरूप नहीं है। अतएव गौण फलकी आशा रहनेपर मुख्यफलके प्रति सहज ही दृष्टि नहीं रहती। इसलिए मुक्ति हृदयकी कामनाको स्थान नहीं देना चाहिए। वे लोग नित्य-रसरूप भक्तिरसमें उन्नति नहीं प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे व्यक्ति ज्ञान और कर्मका जितना भी आश्रय क्यों न करें, भक्तियोग द्वारा कृष्णकी कृपा प्राप्त किए बिना मुक्त नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवतमें जिन दस पदार्थोंका वर्णन किया गया है, उनमें मुक्ति नौवाँ पदार्थ है और आश्रयसुख दसवाँ पदार्थ है।

दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रय-विग्रहम्।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत्॥

(भावार्थदीपिका १०/१)

—दसवें स्कन्धमें आश्रितोंके आश्रयविग्रहस्वरूप श्रीकृष्ण

लक्षित हुए हैं। उन श्रीकृष्णाख्य परमधाम और जगद्धामको मैं नमस्कार करता हूँ।

जिनके हृदयमें आश्रय सुख उदित हो गया है, उनके करकमलोंमें मुक्ति तक नौ पदार्थोंका ज्ञान सर्वदा रहता है। इस तत्त्वको स्पष्ट करनेके लिए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वकर्म करिते से रौरवे पड़ि मजे॥
ज्ञानी जीवन्मुक्त-दशा पाइनु करि माने।
वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति बिने॥

(चै. च. म. २२/२६, २९)

कर्म, ज्ञान, तपस्या आदि साधनोंके द्वारा कोई भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए ज्ञानमार्गी कृष्णभक्तिके आभासका आश्रय किया करते हैं। शुद्धभक्तिके अधिकारी जीव मुक्तिके लिए भगवान्से प्रार्थना नहीं करते। फिर भी मुक्ति अत्यन्त दीन-हीन बनकर उनकी सेवा करनेकी प्रतीक्षामें सर्वदा खड़ी रहती है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्या-
द्दैवेन नः फलति दिव्यकिशोर-मूर्त्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थ-कामगतयः समय-प्रतीक्षाः॥

(श्रीकृष्ण-कर्णामृत, १०७ श्लोक)

—हे भगवन्! यदि आपके श्रीचरणकमलोंमें हमारी अचञ्चला भक्ति रहे, तब तो आपकी दिव्यातिदिव्य परम मनोहर किशोर-मूर्त्ति स्वतः हमारे हृदयमें स्फुरित होगी, उस समय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्गकी प्रार्थनाकी तनिक भी आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि उस समय औरकी तो बात ही क्या, स्वयं मुक्ति भी

हाथ जोड़कर दासीकी भाँति हमारी सेवा करती रहेगी और धर्म-अर्थ तथा काम—ये तीनों जब जैसी आवश्यकता होगी, उसीके अनुसार आपके चरणयुगलकी सेवाके लिए हमारे आदेशोंकी प्रतीक्षा करते रहेंगे।

भक्तकी मुक्ति दो प्रकारकी होती है—स्वरूप-मुक्ति और वस्तु-मुक्ति। जिन्होंने भजन-बलसे इस जड़ जगत्में ही स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है, उनके देहान्तकाल तककी अपेक्षा न करके मुक्ति उनकी सेवा करनी आरम्भ कर देती है। उनका शरीर यद्यपि मायाके अधिकारमें होता है, फिर भी उनकी आत्मा साक्षात्-चिद्धाममें परमानन्द-समुद्रमें निमग्न रहती है। उनकी यह दशा स्वरूप-मुक्तिकी है। उनका देह-त्याग होनेसे ही कृष्णकी कृपासे उनकी वस्तु-मुक्ति हो जायेगी।

अद्वैत मतवादीगण जिस सायुज्य मुक्तिका अनुसन्धान करते हैं, वह निष्ठाके भेदसे दो प्रकारकी होती है—(१) ब्रह्मसायुज्य और (२) ईश्वरसायुज्य। इन दोनों ही प्रकारकी मुक्तियोंमें जीवकी स्वरूपमें अवस्थिति नहीं होती। ब्रह्माण्डपुराणमें इस विषयमें कहा गया है—

सिद्धलोकस्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि।
सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणाः हताः॥

—तमः अर्थात् मायिक जगत्के उस पार ब्रह्मधामरूप सिद्धलोक है। वहाँ ब्रह्मसुखमें मग्न मायावादीगण और भगवान्के हाथोंसे मारे गये कंस आदि असुरगण निवास करते हैं।

"अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि" इत्यादि ब्रह्मचिन्ताद्वारा मायासे पृथक् हो करके भी ज्ञानी और योगियोंको स्वरूपमें स्थितिरूप परम सद्गतिकी प्राप्ति नहीं होती।

नवम परिच्छेद
जीव और जड़ सबका कृष्णसे युगपत् भेद और अभेद दोनों ही हैं

वेद और वेदान्तकी आलोचना करके आचार्योंने दो प्रकारके सिद्धान्तोंको अपनाया है। दत्तात्रेय, अष्टावक्र और दुर्वासा आदि ऋषियोंके अनुगत सिद्धान्तको ग्रहण करके श्रीमद्शंकराचार्यने केवलाद्वैत मतका प्रचार किया है। यह एक प्रकारका सिद्धान्त है। दूसरी ओर नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, मनु आदि महात्माओंके अनुगत सिद्धान्तको लेकर वैष्णवाचार्योंने शुद्ध भक्ति तत्त्वका प्रचार किया है। यही दूसरे प्रकारका सिद्धान्त है। भक्तिसिद्धान्त चार प्रकारके हैं— (१) श्रीरामानुजाचार्यने "विशिष्टाद्वैत" के मतानुसार भक्तिका प्रचार किया है। (२) श्रीमध्वाचार्य ने "शुद्ध-द्वैत" मतके अनुसार भक्तिका प्रचार किया है। (३) श्रीनिम्बादित्याचार्यने "द्वैताद्वैत" के मतानुसार भक्तिका प्रचार किया है और (४) श्रीविष्णुस्वामीने "शुद्धाद्वैत" के मतानुसार भक्तिका प्रचार किया है। ये चारों ही आचार्यगण शुद्ध भक्तिके प्रचारक हैं। (१) श्रीरामानुजके मतसे—चित् (जीव) और अचित् (जड़ जगत्)—इन दो विशेषणोंसे विशिष्ट होकर एकमात्र ईश्वर ही वस्तु हैं। (२) श्रीमध्वके मतसे—जीव ईश्वरसे पृथक् तत्त्व है, परन्तु ईश्वरकी भक्ति ही जीवका स्वभाव है। (३) श्रीनिम्बादित्यके मतसे—जीवका ईश्वरसे युगपत् भेद और अभेद दोनों ही है। अतएव अभेदकी भाँति भेदकी भी नित्यता है। और (४) श्रीविष्णुस्वामीके मतानुसार वस्तु एक होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्मता और जीवता नित्य पृथक् है। इस प्रकार परस्पर भेद रहने पर भी इन सबने भक्तिका नित्यत्व, भगवान्का नित्यत्व, जीवका नित्य-दासत्व और चरम

अवस्थामें प्रेमगतिको स्वीकार किया है। इसलिए वे सभी मूलतत्त्वमें वैष्णव हैं, परन्तु मूलतत्त्वमें वैष्णव होनेपर भी उनके विज्ञान कुछ-कुछ पृथक् रहनेके कारण असम्पूर्ण हैं। साक्षाद् भगवान् श्रीचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर उन चारोंकी वैज्ञानिक असम्पूर्णताको दूर कर पूर्णतम-विज्ञान—शुद्ध भक्तितत्त्वकी शिक्षा दी है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें उस पूर्णतम विज्ञानका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणाम-वाद।
'व्यास भ्रान्त' बलि ताँहा उठाइल विवाद॥
परिणामवादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि विवर्तवाद स्थापना जे करि॥
वस्तुतः परिणामवाद सेइ त प्रमाण।
'देहे आत्मबुद्धि'—एइ विवर्तेर स्थान॥
अविचिन्त्य शक्ति-युक्त श्रीभगवान्।
इच्छातेइ जगत्‌रूपे पाय परिणाम॥
तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अधिकारी।
प्राकृत-चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्न-राशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥
वृहद्‌वस्तु ब्रह्म कहि श्रीभगवान्।
षड्‌विध ऐश्वर्य-पूर्ण परतत्त्व-धाम॥
ताँरे निर्विशेष कहि, चिच्छक्ति ना मानि।
अर्द्ध-स्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि॥
अपादान, करण, अधिकरण-कारक तीन।
भगवानेर सविशेष एइ तीन चिह्न॥

षड़ैश्वर्य पूर्णानन्द विग्रह याँहार।
हेन भगवाने तुमि कह निराकार?

(चै. च. आ. ७/१२१-१२६, १३८-१४०;
म. ६/१४४, १५२)

श्रीवेदव्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रमें परिणामवादका ही उपदेश है—विवर्त्तवादका नहीं। परन्तु शंकराचार्यने यह सोचकर कि परिणामवाद स्वीकार करनेसे ईश्वर विकारी हो पड़ते हैं, वेदान्त सूत्रोंका अर्थ बदलकर विवर्तवादकी स्थापना की है। परिणाम और विवर्त—इन दोनों शब्दोंका अर्थ सदानन्दयोगीन्द्रकृत वेदान्तसार (५९ संख्या) में इस प्रकार लिखा है—

सतत्त्वतोऽन्यथा बुद्धिर्विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा बुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

—कोई सत्य वस्तु दूसरा रूप ग्रहण करने पर उसमें जो पृथक् बुद्धि होती है, उसका नाम परिणामवाद है। परिणाम एक विकार मात्र है। जैसे—दूध एक सत्य वस्तु है। उससे दही होता है। दही दूधका विकार मात्र है, कोई दूसरी वस्तु नहीं है। परन्तु जहाँ कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, फिर भी उसीमें कोई दूसरी वस्तु होनेका जो भ्रम होता है, उसीको विवर्त कहते हैं, जैसे—रज्जुमें सर्पका भ्रम। अर्थात् सर्प नहीं है, फिर भी अन्धकार आदिके कारण रस्सीमें ही सर्प होनेका जो भ्रम होता है, उसे विवर्त कहते हैं। इसी विचारको ग्रहण करके शङ्कराचार्यके अनुयायीगण यह कहते हैं कि जीव और जगत् ईश्वरके कदापि परिणाम नहीं हो सकते। यदि इनको परिणाम स्वीकार किया जाता है, तो ईश्वरको भी विकारी स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् यह जगत् ईश्वरकी एक विकृत अवस्था है—ऐसा मानना पड़ेगा। जिस प्रकार दूध अम्लके संयोगसे विकृत होकर दधि

होता है, जगत्‌को भी उसी प्रकार ईश्वरकी विकृति मानना पड़ेगा। परन्तु शास्त्रोंमें ईश्वरको अविकारी कहा गया है। इसलिए परिणामवाद स्वीकार करने योग्य नहीं है। सर्प नहीं है, फिर भी अज्ञानताके कारण अथवा भ्रमवश एक रज्जु (रस्सी) में सर्पकी प्रतीति होती है और उसके भयसे नाना प्रकारकी फलोत्पत्ति होती है। जगत् भी इसी प्रकार भ्रमजनित एवं कल्पित है। संसार नहीं है। फिर भी अज्ञानके कारण भ्रमवशतः जगत्‌की प्रतीति हो रही है; एक वस्तुकी भाँति उसका बोध होता है। इसीको विवर्त कहते हैं। इस विचारको माननेसे ईश्वरको विकारी नहीं मानना पड़ता। इस प्रकारके सिद्धान्तके द्वारा ही विवर्तवादकी स्थापना हुई है।

इस विषयमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा यह है कि विवर्त्तवादके लिए कोई स्थल नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि जीव जड़ शरीरमें जो आत्म-बुद्धि करता है, उसके लिए ही रज्जुमें सर्पका उदाहरण प्रयुज्य है और शास्त्रोंमें इसी स्थलको विवर्त कहा है। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि जड़ शरीर मिथ्या नहीं है। अतएव ईश्वर ही विवर्तके कारण जड़ शरीर या जड़ जगत अथवा जीवके रूपमें भासते हैं—यह सिद्धान्त अत्यन्त तुच्छ और दोषपूर्ण है। श्रीवेदव्यासके सूत्रोंमें स्पष्टरूपसे परिणामवादको स्वीकार किया गया है। परिणामवादको अस्वीकार करनेसे सर्वज्ञ व्यासदेवको भ्रान्त मानना होता है। वास्तवमें जिस प्रकार दूध दधिके रूपमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वरकी अचिन्त्य शक्ति भी ईश्वरकी इच्छासे जीव और जड़ (जगत्) के रूपमें परिणत हुई है। ईश्वर या ब्रह्मका परिणाम नहीं होता; बल्कि उनकी अचिन्त्यशक्तिके विचित्र प्रभावसे जो परिणति होती है, उससे ईश्वर कदापि विकारी नहीं होते। यद्यपि कोई भी प्राकृत वस्तु अप्राकृत तत्त्वको ठीक-ठीक समझानेके लिए

सम्पूर्णरूपसे उदाहरण नहीं बन सकती, फिर भी किसी अंश-विशेषको तो वह स्पष्ट कर ही सकती है। इस रूपमें ब्रह्मकी अविकारिताके लिए प्राकृत चिन्तामणिका दृष्टान्त दिया जा सकता है। प्राकृत चिन्तामणि नाना प्रकारकी रत्नराशिको उत्पन्न करके भी स्वयं अविकृत रहती है। अप्राकृत-तत्त्वमें ईश्वरकी सृष्टिको भी उसी प्रकार समझ लीजिये। अनन्त जीवमय जैव-जगत् एवं चौदह लोकोंके अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्डोंको अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे इच्छामात्रसे ही सृजन करके भी परमेश्वर स्वयं सर्वथा विकारशून्य ही रहते हैं। 'विकारशून्य' शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह नहीं है कि वे केवल निर्विशेष हैं। वृहद्वस्तु ब्रह्म सर्वदा षड़ैश्वर्यपूर्ण भगवत्स्वरूप हैं। उनको केवल निर्विशेष कहनेसे उनकी चिच्छक्ति स्वीकृत नहीं होती। अचिन्त्यशक्ति द्वारा वे नित्य सविशेष और निर्विशेष दोनों ही हैं। केवल निर्विशेष माननेसे उनका अर्द्धस्वरूप ही मानना होता है तथा उससे उनकी पूर्णताकी हानि होती है। श्रुतियोंने उन परमतत्त्वमें अपादान, करण और अधिकरण—तीन कारकत्वका विशेषरूपसे वर्णन किया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥

(तैत्तिरीय ३/१)

—जिनसे समस्त प्राणी-समुदाय उत्पन्न हुआ है—इससे ईश्वरमें अपादान-कारकत्व सिद्ध हुआ है, जिनके द्वारा सभी जीवित हैं—इससे उनमें करण-कारकत्व सिद्ध है तथा 'जिनमें गमन और प्रवेश करता है—इससे ईश्वरमें अधिकरण-कारकत्व सिद्ध है। इन तीन लक्षणोंसे 'परतत्त्व' विशिष्ट हैं। ये तीन उनके विशेष हैं। अतएव भगवान् सर्वदा सविशेष हैं। ये तीन उनके विशेष हैं। अतएव

भगवान् सर्वदा सविशेष हैं। ऐसे भगवान् कदापि केवल निराकार नहीं हो सकते। षड़ैश्वर्यपूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप ही उनका नित्य अप्राकृत आकार है।

श्रीजीव गोस्वामीने स्वरचित भगवत् सन्दर्भमें (संख्या १६) भगवत्-तत्त्वके विचार-प्रसंगमें लिखा है—

'एकमेव परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैवस्वरूप-तद्रूपवैभव-जीव-प्रधानरूपेण चतुर्द्धावतिष्ठते, सूर्यान्तर मण्डलस्थित तेज इव मण्डल तद्वहिर्गत तद्रश्मि तत्प्रतिच्छविरूपेण।'

परमतत्त्व एक हैं। वे स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हैं। उसी शक्तिसे वे सदैव चार रूपोंमें विराजमान हैं—(१) स्वरूप, (२) तद्रूपवैभव, (३) जीव और (४) प्रधान। सूर्यमण्डलस्थ तेज, सूर्यमण्डल, उनकी बहिर्गत रश्मि और उनकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन—ये चारों कुछ अंशोंमें उदाहरणके स्थल हैं। सच्चिदानन्द-मात्र-विग्रह ही उनका स्वरूप है। चिन्मय धाम, नाम, परिकर तथा उनके व्यवहारमें आनेवाले उपकरणसमूह ही तद्रूप-वैभव हैं। नित्यमुक्त और नित्यबद्ध असंख्य जीव हैं। माया, प्रधान और उससे उत्पन्न समस्त जड़ीय स्थूल और सूक्ष्म जगत् ही 'प्रधान' शब्द वाच्य हैं। ये चारों प्रकाश नित्य परमतत्त्वके एकत्वके ही प्रतिपादक हैं। अब प्रश्न हो सकता है कि परमतत्त्वमें नित्यविरुद्ध व्यापार एक ही साथ कैसे विद्यमान रह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि जीवकी बुद्धि सीमाविशिष्ट है; अतः उसके द्वारा भगवत् तत्त्वको जानना असम्भव है, उसे तो परमेश्वरकी अचिन्त्य शक्तिकी कृपा द्वारा ही जानना सम्भव है।

श्रीजीव गोस्वामीने इस मतको 'सर्वसंवादिनी'—ग्रन्थमें अचिन्त्य-भेदाभेदात्मक बतलाया है। निम्बार्क मतमें जो भेदाभेद अर्थात्

द्वैताद्वैत–मत है, वह अपूर्ण है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा प्राप्तकर वैष्णव जगत्‌ने भेदाभेद मतकी पूर्णताको पाया है। श्रीमध्वाचार्यके मतमें 'सच्चिदानन्द–नित्यविग्रह' स्वीकृत है। वह सच्चिदानन्द–विग्रह ही इस अचिन्त्य भेदाभेदकी मूल आधारशिला होनेके कारण श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीमध्वसम्प्रदायको ही अंगीकार किया है। पूर्व वैष्णवाचार्योंके प्रचारित दार्शनिक मतोंमें कुछ–कुछ वैज्ञानिक अपूर्णता रहनेके कारण उनमें परस्पर वैज्ञानिक भेद हैं। इसी वैज्ञानिक भेदसे ही सम्प्रदाय–भेद हैं। साक्षात् परतत्त्व श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने अपनी सर्वज्ञताके बलसे उन सभी मतोंकी असम्पूर्णताओंको पूर्ण कर श्रीमध्वके सच्चिदानन्द नित्य–विग्रहको, श्रीरामानुजाचार्यके शक्तिसिद्धान्तको, श्रीविष्णुस्वामीसे शुद्धाद्वैतसिद्धान्त तथा तदीय सर्वस्वत्वको और श्रीनिम्बार्कके नित्यद्वैताद्वैत सिद्धान्तको निर्दोष और पूर्ण कर अपना अचिन्त्य–भेदाभेदात्मक अत्यन्त विशुद्ध वैज्ञानिक मत जगत्‌को कृपा करके प्रदान किया है। कुछ ही दिनोंमें भक्तितत्त्वमें केवल एक ही सम्प्रदाय रहेगा; उसका नाम होगा—'श्रीब्रह्म–सम्प्रदाय'। दूसरे सभी सम्प्रदाय इसी ब्रह्म सम्प्रदायमें मिलकर एक हो जायेंगे। इस विषयमें निम्नलिखित कारिकाएँ हैं—

सर्वत्र श्रुतिवाक्येषु तत्त्वमेकं विनिश्चितम्।
नाविद्याकल्पितं विश्वं न जीवनिर्मितं किल॥
अतत्त्वतोऽन्यथा बुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृतः।
सतत्त्वे विश्व एतस्मिन् विवर्तो न प्रवर्त्तते॥
अचिन्त्यशक्तियुक्तस्य परेशस्येक्षणात् किल।
मायानाम्न्या पराशक्तिः सूयते सचराचरम्॥
भेदाभेदात्मकं विश्वं सत्यं किन्तु विनश्वरम्।
न तत्र जीवजातानां नित्यसम्बन्ध एव च॥

न ब्रह्म-परिणामो वै शक्तेः परिणतिः किल।
स्थूल-लिङ्गात्मकं विश्वं भोगायतनमात्मनः॥

वेदवाक्योंकी सर्वांगीण आलोचना करने पर एक सनातनतत्त्वको जाना जाता है। वह सनातन तत्त्व यह है कि विश्व सत्य है, अविद्या द्वारा कल्पित मिथ्या-वस्तु नहीं है। यह परमेश्वरकी निरंकुश इच्छासे उत्पन्न हुआ है—जीव द्वारा निर्मित नहीं है। किसी मिथ्या पदार्थमें सत्यका भास होना ही 'विवर्त' है। जगत् नश्वर होने पर भी सत्य है, अचिन्त्यशक्तिमान ईश्वरके ईक्षण अर्थात् इच्छा करते ही उत्पन्न हुआ है। इसमें विवर्तका स्थल नहीं है। परमेश्वरकी माया नामक अपराशक्तिने परमेश्वरकी इच्छानुसार इस स्थावर-जड़मय सम्पूर्ण जड़ जगत्‌को उत्पन्न किया है। सारा विश्व ही अचिन्त्यभेदाभेदात्मक है। विश्व सत्य होने पर भी नित्य सत्य नहीं है। 'नित्यो नित्यानां' (क. २/२३, श्वे. ६/१०) इस श्रुति-मन्त्रद्वारा यही प्रमाणित होता है। केवल भेद अथवा केवल अभेदवाद एवं शुद्धद्वैत या विशिष्टाद्वैतवाद-ये सभी श्रुतिशास्त्रोंके एक देशीय विचार हैं, साथ ही अन्यदेश-विरुद्ध हैं। परन्तु अचिन्त्यभेदाभेद-मत वेदका सर्वांगीण पूर्णतम सिद्धान्त है। यही मत जीवकी स्वतःसिद्ध श्रद्धाका आस्पद और साधुयुक्ति-संगत है। इस जड़ जगत्‌से जीवका नित्य सम्बन्ध नहीं है। जगत् परब्रह्मकी शक्तिका परिणाम है, वस्तुका परिणाम नहीं है। यह स्थूललिंगात्मक विश्व जीवका भोगायतन मात्र है।

दशम परिच्छेद

शुद्ध भक्ति ही जीवके लिए साधन है

शुद्ध भक्तिका स्वरूप, अधिकार, प्रकार और अंग—इनका विवेचन करके जीवके साधन तत्त्वका विचार किया जायेगा। शुद्धभक्तिका स्वरूप बतलाते हुए श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(भ. र. सि. पू. १/९)

श्रीचैतन्यचरितामृत (म. १/९/१६७) में इसका इस प्रकार अनुवाद है—

अन्य-वांछा, अन्य-पूजा, छाड़ि ज्ञान, कर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा आनुकूल्य-भावके साथ श्रीकृष्णानुशीलनका नाम कृष्णभक्ति है—भक्तिकी उन्नतिकी कामनाके अतिरिक्त अन्यान्य सारी कामनाओंसे रहित होकर, किसी भी दूसरे देवताओंको पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर मानकर उनकी पूजा न करते हुए कृष्णैकनिष्ठाके साथ, ज्ञान और कर्मका परित्याग करके आनुकूल्य भावसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्णानुशीलनको उत्तमाभक्ति या शुद्धाभक्ति कहते हैं। कृष्णके प्रति रोचमाना प्रवृत्ति (जो कृष्णको रुचे) का नाम आनुकूल्य है। ब्रह्म या परमात्माका अनुशीलन ज्ञान और योगमार्गसे ही सम्भव है। अतएव यह अनुशीलन भक्ति नहीं है। यहाँ ज्ञान कहनेका तात्पर्य निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान और सांख्य-ज्ञानसे समझना चाहिए। जीव, जड़ और भगवान्—इनका तत्त्वज्ञान और सम्बन्धज्ञान स्वरूपसिद्धिके लिए नितान्त आवश्यक है। वे दोनों ज्ञान भक्ति

अनुशीलनके अन्तर्गत हैं। 'कर्म'—शब्दसे यहाँ स्मार्त्तोंके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित आदि भगवद् बहिर्मुख कर्मोंको समझना चाहिए। कृष्णपरिचर्या आदि कर्मप्राय होनेपर भी सेवानिष्ठा-लक्षणयुक्त होनेके कारण कर्मकी संज्ञा ग्रहण नहीं करते अर्थात् वे कर्म नहीं—भक्तिके नामसे ही परिचित होते हैं। भक्तिसे पूर्व जो वैराग्य होता है, वह वैराग्य भी एक प्रकारसे कर्म ही है। श्रीकृष्णके प्रति जीवकी जो अहैतुकी अव्यवहिता (नैरन्तर्यमयी) आत्मवृत्ति होती है, वही भक्तिलक्षणके द्वारा लक्षित होती है। भक्तिकी साधनावस्थामें चार लक्षण और साध्यावस्थामें दो लक्षण लक्षित होते हैं। (१) अविद्या (पापबीज), पापवासना और पाप तथा अविद्या (पुण्यबीज), पुण्य-वासना और पुण्य-इन सभी प्रकारके क्लेशोंको नष्ट करना ही भक्तिका पहला लक्षण है। (२) भक्ति साधनावस्थामें शुभदायिनी होती है अर्थात् सबके प्रति प्रीति, प्राणीमात्रके प्रति अनुराग, समस्त सद्गुण और शुद्ध सुख प्रदान करना ही उसका दूसरा लक्षण है। यह दूसरा लक्षण ही 'शुभदा' है। (३) मोक्षको तुच्छ बोध करना ही साधन भक्तिका तीसरा लक्षण है। (४) विषयभोगके प्रति अनासक्त होकर साधन भक्तिके अङ्गोंका चिरकाल तक अनुष्ठान करने पर भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, यह सुदुर्लभता ही साधन भक्तिका चौथा लक्षण है। (क) सान्द्रानन्द-विशेष स्वरूपता और (ख) श्रीकृष्णाकर्षणीत्व ही साध्य भक्तिके दो नित्य लक्षण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द-विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

(भ. र. सि. पू. १ल. १२)

साध्य-भक्तिमें भी पूर्व प्रदर्शित चारों लक्षण लक्षित होते हैं। साध्य-भक्तिकी प्रथमावस्थाको ही भावभक्ति कहते हैं; भाव-भक्तिमें

पूर्वकथित चारों लक्षण सम्पूर्ण रूपसे लक्षित होते हैं। साध्य-भक्तिकी सर्वोच्च अवस्था ही प्रेम है। अतएव भक्तिकी साधनावस्थामें—साधनभक्ति तथा साध्यावस्थामें—भावभक्ति और प्रेम-भक्ति होती है। केवल युक्ति द्वारा भक्ति-तत्त्वको नहीं जाना जा सकता। परन्तु अल्पमात्रामें भी रुचि होने पर उसके अनुगत युक्ति होने पर वैसी युक्तिद्वारा भक्ति-तत्त्व स्पष्ट होनेमें सहायता मिलती है।

इस प्रबन्धमें केवल साधन भक्तिकी विवेचना होगी—

कृति साध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/२)

साधन भक्तिका लक्षण यह है कि साध्य-भावरूपा शुद्धाभक्ति जब इन्द्रियोंके द्वारा साध्या होती है, तब उसका नाम "साधन भक्ति" है। साध्यभाव नित्यसिद्ध है। परन्तु जिसके द्वारा उसे हृदयमें प्रकट किया जाता है, उसीका नाम साधन है। मुख्य बात यह है कि जिस किसी योग्य और अपने मनोनुकूल उपायका अवलम्बन करके श्रीकृष्णके प्रति मनोनिवेश किया जा सके, उस उपायको ही साधनभक्ति या उपाय भक्ति कहा जा सकता है। यह साधनभक्ति दो प्रकारकी है—वैधी और रागानुगा।

वैधी भक्तिका लक्षण यह है कि जब श्रीकृष्णमें स्वाभाविक राग और रुचिद्वारा प्रवृत्त न होकर केवल शास्त्र-शासन द्वारा जीव कृष्ण-भक्तिमें प्रवृत्त होता है, उस समय जो साधन-भक्ति होती है, उसे "वैधी" भक्ति कहते हैं। इस वैधीभक्तिकी विधियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—सबके लिए शास्त्रोंमें नित्य करणीय बतलायी गयी हैं। इसलिए नारद-पंचरात्रमें भी कहते हैं—

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत्॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/८ धृत पंचरात्रवचन)

हे सुरर्षे! श्रीहरिके उद्देश्यसे जो सब क्रियाएँ शास्त्रोंमें विहित हैं, उनको ही साधन-भक्ति या उपाय भक्ति कहते हैं; उनके द्वारा पराभक्ति या साध्यभक्ति या उपेयभक्ति प्राप्त होती है।

इस वैधी भक्तिके तीन प्रकारके अधिकारी हैं—

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।
उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ-श्रद्धा अनुसारी॥

(चै. च. म. २२/६४)

अर्थात् श्रद्धालुजन भक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। इसलिए भक्ति अधिकारी भी श्रद्धाके अनुरूप उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकारके होते हैं।

श्रद्धा किसे कहते हैं? इसकी श्रीचैतन्यचरितामृतमें बड़ी ही सुन्दर और सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा दी गयी है—

'श्रद्धा'-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥

(चै. च. म. २२/६२)

कृष्णकी भक्ति करनेसे सभी कर्म कर लिये गये—कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा—ऐसे सुदृढ़ विश्वासको श्रद्धा कहते हैं।

कृष्णभक्तिके बिना जीवोंके उद्धारका और कोई भी दूसरा उपाय नहीं है तथा ज्ञान और कर्मादि चेष्टाएँ भक्तिशून्य होने पर व्यर्थ ही हैं—इस प्रकार दृढ़ निश्चयके साथ जो भक्ति-उन्मुखी चित्तवृत्ति है, उसीको श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा जिन व्यक्तियोंमें दृढ़ और

अटल है, वे भक्तिके उत्तमाधिकारी हैं। जिनमें कुछ कुछ दृढ़ है; वे भक्तिके मध्यमाधिकारी हैं। दृढ़ता नहीं है, फिर भी विश्वास-प्राय है अथवा विरुद्ध सिद्धान्तोंसे डर होता है—ऐसी श्रद्धा जिनमें है, वे भक्तिके कनिष्ठाधिकारी हैं। कनिष्ठाधिकारी दो प्रकारके होते हैं अर्थात् कर्म- ज्ञानाधिकारमिश्र और कर्म-ज्ञानाधिकारशून्य। कर्म-ज्ञानाधिकारशून्य कनिष्ठाधिकारी साधुसंगमें भजन करते-करते क्रमशः उत्तमाधिकारी होंगे। परन्तु दूसरे प्रकारवाले कर्म-ज्ञानाधिकारमिश्र कनिष्ठाधिकारी विशेष कठिनाई और प्रबल साधु-कृपाके द्वारा ही उन्नत हो सकते हैं। इस विषयमें श्रीरूप गोस्वामीने इस प्रकार कहा है—

"मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वल्पा कर्माधिकारिता॥"

(भ. र. सि. पू. २/८२)

—मृदु-श्रद्धा अर्थात् जिनकी थोड़ी मात्रामें भी श्रद्धा उदित हुई है, उनकी कर्माधिकारिता भी अल्प ही है अर्थात् कर्मकाण्डमें उनका अधिकार संकुचित हो चुका है।

ये लोग ही वर्णाश्रमद्वारा तथा कर्मार्पणद्वारा भक्तिका अनुष्ठान करते हैं। इनकी भक्ति, भक्ति नहीं, बल्कि भक्त्याभास है। इनका उच्चारित हरिनाम छाया नामाभास है। यदि अन्याभिलाषिता रहे, तब उनका उच्चारित नाम प्रतिबिम्ब-नामाभास होता है तथा उच्चारणकारीको कर्मी अथवा ज्ञानी कहा जा सकता है, उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञानकर्मार्पणकारी कनिष्ठ भक्तजन वैष्णव-प्राय हैं अर्थात् वैष्णवाभास हैं। रायरामानन्द-मिलनके समय जब रायरामानन्दजी साधनका निर्णय कर रहे हैं, उस समय श्रीमन्महाप्रभुने जहाँ तक यह कहते रहे कि "यह भी बाह्य है और आगे कहो"—(एइ बाह्य, आगे कह आर) वहाँ तक मृदु श्रद्धालुओंका धर्म समझना चाहिए। तत्पश्चात् जब उन्होंने (श्रीमन्महाप्रभुजीने) यह कहा कि

"यह भी है, और आगे कहो।" (एइ हय; आगे कह आर), तभी शुद्ध-भक्तिका विषय आया। अतएव दृढ़-श्रद्ध भक्त्याधिकारीका लक्षण इस प्रकार है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ् मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(भा. १०/१४/३)

हे भगवान्! कर्ममार्गकी बात अलग रहे, ब्रह्मानुसन्धानरूप ज्ञानकी चेष्टाको भी छोड़कर जो भक्तिके अनुकूल स्थानोंमें स्थित रहकर साधुओंके मुखनिःसृत अपने कर्ण-पथमें उपस्थित आपकी लीलाकथाओंको नमस्कारपूर्वक जीवन निर्वाह करते हैं, आप अजित होनेपर भी त्रिलोकमें केवल उनके द्वारा ही आप जीत लिये जाते हैं।★

★ इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियज ज्ञानके सहारे इन्द्रियातीत वस्तुको प्राप्त करनेकी चेष्टाका नाम आरोहवाद या अश्रौत तर्कपथ है। हे अवाङ्मनोगोचर अजित कृष्ण! जो लोग इन नश्वर इन्द्रियों द्वारा बाह्य असद् विषयोंके ज्ञानके बलपर प्रतिष्ठित तर्कपथका त्याग करके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—इन चारों दोषोंसे रहित वास्तव वस्तु भगवत्तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले साधु मुखसे—"मैं श्रवण योग्य-हेतु श्रद्धापूर्वक कीर्तन श्रवण करूँगा"—ऐसी सेवाबुद्धि लेकर एवं कायमनोवाक्यसे अहंकारका सर्वथा परित्यागकर तुम्हारी कलि-कलुष-नाशिनी भक्तिसिद्धान्त वाणीके श्रवण और कीर्तनमें जीवन व्यतीत करते हैं, वे त्रिभुवनमें जिस किसी वर्ण या आश्रममें अवस्थित क्यों न रहें, परम दुर्ज्ञेय आपको भलीभाँति जानकर प्रेम भक्ति द्वारा वशीभूत करनेमें समर्थ होते हैं। (प्रभुपाद)

भक्ति-वासनारूप अत्यधिक सुकृतिके बलसे जीव भक्तिउन्मुखी श्रद्धा प्राप्त करते हैं। उसे प्राप्त करने पर जड़-विषयोंमें केवलमात्र जीवन-निर्वाहके लिए ही चेष्टा होती है, उनसे वैराग्य नहीं होता।

भुक्ति-मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्ति-सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/१६)

हृदयमें भुक्ति और मुक्तिकी कामनारूपी पिशाची जब तक निवास करती है, तब तक शुद्धा भक्तिका अभ्युदय नहीं हो सकता। इनमें मुक्तिकी कामना भक्तिकी अत्यन्त विरोधिनी है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमें सायुज्य मुक्ति अत्यन्त भक्ति-विरोधी है। इसलिए कृष्ण भक्त-जन सायुज्यकी बात ही क्या, सालोक्यादि अन्य चार प्रकारकी मुक्तियोंकी भी कामना नहीं रखते। यथा—

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(भा. ३/२९/१३)

वर्णाश्रम-धर्मकी भाँति साधन भक्तिमें किसी विशेष व्यक्ति या श्रेणीके व्यक्तियोंका अधिकार नहीं है। मानवमात्र ही श्रद्धा उत्पन्न होने पर भक्तिका अधिकारी है, भक्तिके अधिकारीका कर्माधिकार नहीं होता। उनकी विकर्ममें भी रुचि नहीं होती। परन्तु अकस्मात् कोई विकर्म हो भी जाय, तो भक्तिके प्रभावसे वह नष्ट हो जाता है। उसके लिए प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं होती। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

(भा. ११/५/४२)

अधिकारके अनुसार कार्य करने या कर्त्तव्यके पालनमें ही समस्त प्रकारके गुण हैं, इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा या कार्यमें सब प्रकारके दोष निहित हैं—

स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥

(भा. ११/२१/२)

ऐसी निष्ठाके साथ वैधी भक्तिका आचरण करनेके लिए ही शास्त्रकी आज्ञा है। साधन-भक्तिके बहुतसे अंग हैं; परन्तु संक्षेपमें वे चौंसठ प्रकारके हैं। इन चौंसठ अंगोंका वर्णन श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य २२/११२-२६ में है—

(१) सद्गुरुपदाश्रय, (२) कृष्णदीक्षा और शिक्षा, (३) गुरु-सेवा, (४) साधु-पथावलम्बन, (५) सद्धर्म-जिज्ञासा, (६) कृष्णके लिए भोग-त्याग, (७) भक्तितीर्थमें निवास, (८) जीवन निर्वाहके उपयोगी-संग्रह, (९) हरिवासरका सम्मान, (१०) आँवला और पीपल आदिका गौरव—ये दस अंग अन्वयरूपमें प्रारम्भिक अंगमात्र हैं। (११) बहिर्मुखसंग-त्याग, (१२) अनधिकारी व्यक्तियोंको शिष्य न करना, (१३) बह्वारंभका परित्याग, (१४) भक्तिशून्य ग्रन्थोंका पाठ, बहु शास्त्रका कलाभ्यास और व्याख्यावाद आदि वर्जन, (१५) व्यवहारमें अकार्पण्य, (१६) शोक आदिके वशीभूत न होना, (१७) दूसरे-दूसरे देवताओंकी अवज्ञा न करना, (१८) अपने लिए दूसरोंको उद्वेग न देना, (१९) सेवापराध और नामापराधका वर्जन करना और (२०) कृष्णभक्तोंकी निन्दा न सुनना—इन दस अंगोंका व्यतिरेकरूपसे साधन करना चाहिए। गुर्वाश्रय, दीक्षा-शिक्षा और गुरु-सेवा—ये तीन अङ्ग इनमें सर्वप्रधान हैं। (२१) वैष्णव-चिह्न-धारण, (२२) हरिनामाक्षर-धारण, (२३) निर्माल्य आदि ग्रहण, (२४) कृष्णके आगे नृत्य, (२५)

दण्डवन्नति, (२६) अभ्युत्थान, (२७) अनुव्रज्या, (२८) भगवत्-स्थानोंमें गमन, (२९) परिक्रमा, (३०) अर्चन, (३१) परिचर्या, (३२) गीत, (३३) संकीर्त्तन, (३४) जप, (३५) विज्ञप्ति, (३६) स्तव-पाठ, (३७) नैवेद्यास्वादन, (३८) पाद्यास्वादन, (३९) धूप-माल्यादिका सौरभ-ग्रहण, (४०) श्रीमूर्त्तिका स्पर्श करना, (४१) दर्शन करना, (४२) आरात्रिक-उत्सव आदि दर्शन, (४३) कृपा-दृष्टि ग्रहण, (४४) अपनी प्रिय वस्तुएँ कृष्णको देना, (४५) श्रवण, (४६) स्मृति, (४७) रूप-क्रीड़ादिका ध्यान, (४८) दास्य, (४९) सख्य, (५०) आत्मनिवेदन, (५१) कृष्णके लिए अखिल चेष्टाएँ, (५२) शरणापत्ति, (५३) तदीय तुलसी-सेवा, (५४) भागवत-सेवा, (५५) मथुरा-सेवा, (५६) वैष्णवजन सेवा, (५७) यथाशक्ति सत्संगमें महोत्सव, (५८) कार्त्तिक व्रत, (५९) जन्ममहोत्सव, (६०) श्रीमूर्त्ति-सेवा, (६१) रसिकजनोंके साथ श्रीमद्भागवतका अर्थ-आस्वादन, (६२) स्वजातीय-आशयस्निग्ध (अपनेसे श्रेष्ठ) वैष्णवका सङ्ग, (६३) नाम-संकीर्तन और (६४) मथुरा-वास। अन्तिम पाँच अङ्गोंका थोड़ा-सा भी सम्बन्ध होनेपर भाव-भक्तिका उदय होता है। इन अंगोंमें से कुछ शरीर-सम्बन्धी, कुछ इन्द्रिय-सम्बन्धी और कुछ अन्तःकरणसम्बन्धीय उपासना हैं। मूल तत्त्व यह है कि शरीर, इन्द्रिय और मनको कृष्णभक्तिमें नियुक्त करनेके उपायको वैधी साधन भक्ति कहा जा सकता है। कोई-कोई इन साधनोंमें-से किसी एक अंगका साधन करके ही सिद्ध होते हैं। कोई-कोई अनेक अंगोंका भी एक ही साथ साधन करते हैं। शास्त्रोंमें इन साधनोंके भोग-मोक्ष आदि क्षुद्र-क्षुद्र फलोंका जो उल्लेख है, वह केवल बहिर्मुख लोगोंको लोभ दिखाकर भक्तिमें प्रवृत्त करानेके लिए है। वास्तवमें साधन भक्तिके सभी अंगोंका मुख्य फल एक ही है—चिद्विषयिनी रति।

उपर्युक्त अंग चौंसठ भागोंमें विभक्त होने पर भी स्वरूपतः वे केवल नौ अंग ही हैं। जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियेत् भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(भा. ७/५/२३–२४)

श्रीचैतन्यचरितामृत (म. २२/११८) में भी कहा गया है—

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, वन्दन।
परिचर्या, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन॥

—जो स्वयं-भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें आत्मसमर्पणपूर्वक व्यवधानरहित होकर अर्थात् ज्ञान, कर्म और योग आदिसे रहित होकर इस नौ लक्षणा (नवधा) भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्होंने ही शास्त्रोंका भलीभाँति अध्ययन किया है अर्थात् उनका ही शास्त्रानुशीलन सार्थक है।

भक्तितत्त्वको जाननेवाले भक्तजन कर्मको किसी भी अवस्थामें भक्तिका अंग नहीं बतलाते। कर्मका कर्मत्व नष्ट नहीं होने तक अर्थात् भक्तिका स्वरूप और भक्ति-नामकी प्राप्ति नहीं होनेसे उसे भक्ति नहीं कहा जा सकता है। कर्मका स्वरूप परिवर्तन होनेसे पहले तीन अवस्थाएँ होती हैं-निष्काम अवस्था, कर्मार्पण-अवस्था और कर्म योगावस्था। इन तीनों अवस्थाओंको पार करने पर कर्मका स्वरूप परिवर्तन होकर परिचर्या रूप भक्ति होती है। अतएव—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(भा. ११/२०/९)

कर्ममें निर्वेद होने पर कर्मका स्वरूप बदलकर ज्ञान स्वरूप हो पड़ता है। जब कृष्णकी लीला–कथाओंमें श्रद्धा होती है, तब कर्मका स्वरूप बदल कर भक्तिका स्वरूप हो पड़ता है। निष्काम कर्म और भगवदर्पित कर्मके विषयमें श्रीनारदजीने कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्ज्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(भा. १/५/१२)

अच्युत अर्थात् भगवान् कृष्णकी भक्तिसे रहित नैष्कर्म्यरूप ब्रह्मज्ञान भी जब शोभा नहीं पाता, तब स्वभावसे ही अभद्र अर्थात् अमंगलप्रद जो कर्म है, वह निष्काम होनेपर भी जब तक ईश्वरार्पित नहीं होता तब तक कैसे शोभा पा सकता है?

भगवदर्पित कर्म किस प्रकार भक्ति स्वरूपमें बदल जाता है, इस विषयमें श्रीनारद गोस्वामी कहते हैं—

आमयो यश्चभूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
स एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्–परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥

(भा. १/५/३३–३६)

जिस पदार्थके सेवनसे रोगकी उत्पत्ति होती है, वही पदार्थ उस रोगको दूर करनेके लिए प्रयोग करनेसे वह रोग कदापि दूर नहीं किया जा सकता। सभी कर्म मनुष्योंके संसारके हेतु हैं।

भले ही वे कर्म निष्काम हों अथवा ईश्वरार्पित ही क्यों न हों, वे भवरोगको दूर करनेमें समर्थ नहीं होते। कर्मोंका प्रयोग केवल जीवन–यात्रा निर्वाहके लिए ही ग्रहणकर एवं बादमें उन्हें भक्ति–स्वरूपमें बदलने पर ही उन कर्मोंका कर्मत्व नष्ट होता है। भगवत् परितोषणोपयोगी कर्मोंको ग्रहण करनेसे तथा भक्तिके अधीन सम्बन्ध–ज्ञानको स्वीकार करनेसे सभी कर्म अपना कर्मत्व छोड़कर भक्तियोग हो पड़ते हैं। उस भक्तियोगके अन्तर्गत कृष्णपरितोषक कर्म करते हुए भगवत्–शिक्षा लाभ कर निरन्तर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और उनकी लीला–कथाओंका स्मरण और कीर्तन करना ही सभी शास्त्रोंका अभिधेय है।

यद्यपि भक्ति–राज्यमें प्रवेशके लिए ज्ञान और वैराग्यकी थोड़ी सी उपयोगिता स्वीकृत तो है; परन्तु वे भक्तिके साक्षात् अंग नहीं हैं। यदि वे दोनों तनिक भी प्रबल हो जाते हैं, तो चित्तको कठोर बना देते हैं, जिसे सुकोमल–स्वभाववाली भक्ति पसन्द नहीं करती। चित्त थोड़ा भी कठोर होनेपर वहाँ भक्ति देवीका आविर्भाव नहीं होता। इसलिए सम्बन्ध तत्त्वको जाग्रत करानेवाली भक्तिकी आलोचना ही भक्तिके आविर्भावका एकमात्र कारण है। अनासक्त होकर भक्तिके अनुकूल रूपमें कृष्णसे सम्बन्ध स्थापित करके यथायोग्य (जीवन–निर्वाहोपयोगी) विषयोंका भोग करनेसे ही युक्त वैराग्य होता है। जैसे—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

(भ. र. सि. पू. २/१२५)

पूर्वोक्त साधन भक्तिका पालन करना ही साधन भक्तोंका कर्त्तव्य है। कर्म, आध्यात्मिक ज्ञान और फल्गु–वैराग्य—ये कभी

भी भक्तिके अंग नहीं होते। बल्कि ये सभी भक्तिके लिए बाधास्वरूप हैं। धन और शिष्यादिके लिए जो भक्ति होती है, वह भी शुद्ध भक्ति नहीं बल्कि भक्ति-बाधक ही है। विवेक आदि भक्तिके अधिकारियोंके गुण तो हैं, परन्तु भक्तिके अंग नहीं हैं। यम, नियम, अहिंसा और शौचादि—ये भी भक्तिके अंग तो नहीं हैं, भक्तिके अंगोंके अधीन रहने पर शोभा पाते हैं, अन्यथा हेय हैं।

ज्ञान-वैराग्यादि भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग'।
अहिंसा-यम-नियमादि बुले कृष्णभक्त-सङ्ग॥

(चै. च. म. २२/१४६)

यहाँ तक वैधी-भक्तिका विवेचन है। अब रागानुगा साधन भक्तिके विषयमें बतलाया जा रहा है।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/३१)

इष्ट विषयमें जो स्वाभाविकी परम आविष्टता (अनुरक्ति) होती है, उसे 'राग' कहते हैं। वैसे रागसे युक्त जो कृष्णकी भक्ति होती है, उसे 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। उस रागात्मिका भक्तिके अनुगत भावको ही 'रागानुगा' भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार शास्त्रके अनुशासनमें-विधिके अधीन रहकर जो भक्ति होती है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं, उसी प्रकार रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी भक्तिको 'रागानुगा भक्ति' कहा जाता है। इन दोनोंमेंसे कोई भी साध्यभक्ति नहीं हैं, ये दोनों ही साधन भक्ति हैं। रागात्मिका भक्ति दो प्रकारकी होती है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। ब्रजवासी और पुरवासी लोगोंकी भक्ति 'रागात्मिका' है। उनकी वैसी भक्तिको सुनकर या पढ़कर जिसके हृदयमें वैसी ही भक्तिको प्राप्त करनेके लिए लोभ

होता है, वे रागानुगा साधन भक्तिके अधिकारी हैं। जिस प्रकार शास्त्रीय-श्रद्धासे वैधी भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है, उसी रागात्मिक भक्तोंके भावके प्रति लोभसे रागानुगा भक्तिमें अधिकार मिलता है।

भक्तिरसामृतसिन्धु (पू. वि. साधन-भक्ति लहरी १४८, १५०-१५१ श्लोक) में इस विषयको बड़े ही सुन्दर रूपसे व्यक्त किया है—

तत्तद्भावादि-माधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्ति-लक्षणम्॥
कृष्णं स्मरन् जनंचास्य प्रेष्ठं निज-समीहितम्।
तत्तत् कथा-रतश्चासौ कुर्याद्वासं ब्रजे सदा॥
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भाव-लिप्सुना कार्या ब्रजलोकानुसारतः॥

रागानुगाभक्तिका कारण रागात्मिकजनोंके भावोंके प्रति लोभका होना है। यह लोभ शास्त्र या युक्तिसे उत्पन्न नहीं होता। बल्कि उन-उन भाव-माधुरियोंका श्रवण करके उनमें निमग्न होनेके लिए बुद्धि जिस चीजकी अपेक्षा करती है, वह चीज विशुद्ध लोभके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने अभीष्ट कृष्णके प्रियजनोंके भावोंकी प्राप्तिके लिए जिनको लोभ है, वे साधक रूपसे अर्थात् यथावस्थित देह द्वारा और सिद्ध रूपसे अर्थात् अन्तश्चिन्तित अभीष्ट कृष्णसेवोपयोगी देहके द्वारा व्रजमें सर्वदा वास करते हुए श्रीकृष्णके ब्रजस्थ प्रियतमजनोंके तथा उनके अनुगतजनोंका अनुसरण करते हुए निरन्तर श्रीकृष्णकी सेवा करेंगे, कृष्णकी लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्तन और स्मरण करेंगे—यही ब्रजरागानुग भक्तोंकी परिपाटी या साधन-प्रणाली है। वैधीभक्तिके विषयमें जिन कीर्तन आदि अंगोंका वर्णन किया गया है, उनमेंसे अपनी सेवाके

अनुकूल सभी अंग रागानुग साधक देहमें भी किये जायेंगे। जिनका लोभ दास्य रसके प्रति है, वे पत्रक आदिके भाव तथा उनकी चेष्टा-मुद्राओंका अनुसरण करेंगे। जिनका सख्यरसके प्रति लोभ है, वे सुबल आदिके भाव और उनकी चेष्टा-मुद्राओंका अनुसरण करेंगे तथा जिनका मधुररसके प्रति लोभ है, वे ब्रजगोपियोंके भाव और उनकी चेष्टामुद्राओंका अनुसरण करेंगे।

रागात्मिका भक्ति दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। उसी प्रकार रागानुगा भी दो प्रकारकी होती है। उनमें कामानुगा ही प्रधान और बलवती होती है। कामानुगा दो प्रकारकी होती है—संभोगेच्छामयी और तद्भावेच्छामयी। संभोगेच्छामयी भक्ति केलितात्पर्यवती होती है। यहाँ केलिका तात्पर्य श्रीकृष्णके साथ कृष्णप्रेयसियोंके मिलनसे है। तद्भावेच्छामयी भक्ति केवलमात्र ब्रजदेवीकी भाव-माधुरीकी कामना वाली होती है। कृष्णमें पितृत्व आदि सम्बन्धोंका आरोप करने वाली भक्ति सम्बन्धानुगा कहलाती है। द्वारकापुरीमें महिषीभावानुगा भक्ति ही मधुररसमें सम्बन्धानुगा है। ब्रजमें इस रसमें कामानुगाके अतिरिक्त दूसरी मधुररति नहीं है।

अब यह जान लेना आवश्यक है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभुने जगतके जीवोंके लिए जो शिक्षा दी है; उसके द्वारा साधकके हृदयमें सहसा रागानुग होनेकी वासना होती है। राग-मार्गद्वारा भजन ही उनके द्वारा अनुमोदित है। जीवोंके सौभाग्यसे यदि उन्हें श्रीगौराङ्गदेवके कृपापात्रों—श्रीगौराङ्गदेवके प्रियजनोंका संग मिल जाय, तो ब्रजजनोंके भावके प्रति अवश्य ही लोभ उत्पन्न होगा। जबतक ऐसा संग नहीं मिलता, तब तक अधिकांश साधक वैधी-भक्तिका ही अवलम्बन करते हैं। श्रीगौराङ्गदेवके चरणोंका आश्रय करनेसे रागमार्गमें अवश्य ही प्रवेश होगा। राग-मार्गमें लुब्ध साधकके लिए पहले

रागानुगा भक्तिका साधन कर्त्तव्य है। रागानुगा-भक्तिके लिए जो अधिकार होता है, वह अत्यन्त उच्च होता है। ब्रजवासीजनोंके भावके प्रति लोभ उत्पन्न होने पर इतर विषयोंमें रुचि नहीं रहती और पाप-पुण्य, कर्म, अकर्म, विकर्म, ज्ञान तथा वैराग्यसे छुटकारा मिल जाता है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन-क्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततोभावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

(भ. र. सि. पू. वि. ४/११)

वैध-मार्गमें सबसे पहले श्रद्धा होती है। उसके बाद साधुसंग, तत्पश्चात् भजन द्वारा अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। तदनन्तर निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव होता है। इसमें भाव चिरकाल साध्य बना रहता है। परन्तु लोभ उत्पन्न होने पर इतर विषयोंमें लोभका अभाव होनेके कारण अति सहज ही अनर्थ नष्ट हो जाते हैं। भाव भी इसी लोभके साथ-ही-साथ उदित होता है। रागमार्गमें केवल आभास और कपटताको दूर करना आवश्यक है। यदि ये दूर न हो, तो उनसे विषम-विकार और अनर्थोंकी ही वृद्धि होती है। ऐसी अवस्थामें भ्रष्ट राग ही विशुद्ध राग है—ऐसी प्रतीति होती है और अन्तमें विषय- सङ्ग ही प्रबल होकर जीवकी अधोगतिका कारण बन जाता है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके चरणाश्रित साधक पुरुष शुद्ध लोभके माध्यमसे रागानुगा भक्तिका ही अवलम्बन करते हैं। वैधी-भक्तिमें वे सद्गुरुका पदाश्रय करके श्रीविग्रह-सेवा, वैष्णव-सङ्ग, भक्ति-शास्त्रोंका आदर, भगवान्‌की लीला-स्थलियोंमें वास और श्रीभगवन्नामका अनुशीलन करते हुए अपनी सिद्ध-देहमें ब्रजवासीके भावका

अनुसरणपूर्वक मन–ही–मन भाव–मार्गद्वारा कृष्णकी सेवा करते हैं। उनमेंसे अत्यन्त सौभाग्यवान साधक ही साधुसंगमें रहकर भक्तिके अंगोंमें श्रेष्ठ हरिनामका आश्रय ग्रहण करके भगवत्–सेवामें नियुक्त होते हैं। नामाश्रय ग्रहण करनेमें दीक्षा और पुरश्चर्या आदि विधियोंकी अपेक्षा नहीं रहती। नामाभास और नामापराधसे दूर रहकर क्रमशः निरन्तर कृष्णनाम करते हैं। निरन्तर हरिनाम करते हुए श्रीविग्रहकी कृपादृष्टिकी भावनाके साथ श्रीनाम और रूपकी निरन्तर आलोचना करते हैं। क्रमशः श्रीविग्रहके गुणसमूह, रूप और नाम—ये सभी एक ही साथ आलोचित होने लगते हैं। तदनन्तर स्वरूपगत लीला–भावनाके साथ गुण, रूप और नामका अनुशीलन होने लगता है। धीरे–धीरे रसोदय भी हो जाता है। रसका उदय होना ही चरम प्राप्ति है। विशेष बात यह है कि नाम–अनुशीलनके समयसे ही यदि रसोन्मुखी व्याकुलता रहे, तो थोड़े दिनोंमें रसोदय हो पड़ता है।

नामापराध दस प्रकारके हैं। पद्मपुराणमें इसका वर्णन इस प्रकारसे है—

(१) सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्।
(२) शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि–सकलं
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥
(३) गुरोरवज्ञा (४) श्रुतिशास्त्रनिन्दनं (५) तदार्थवादो
(६) हरिनाम्नि कल्पनम्।
(७) नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि–
र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
(८) धर्म–व्रत–त्याग–हुतादि–सर्व शुभक्रिया साम्यमपि प्रमादः।
(९) अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः।

(१०) श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितो नरः।
अहं-ममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥

(१) शुद्ध-भक्तोंकी निन्दा करना और उनसे विद्वेष करना। (२) ब्रह्मा और शिव आदि दूसरे देवताओंको भगवान्‌से पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र ईश्वर या उनको कृष्णके समान मानकर अपनी कृष्ण-निष्ठाको आघात पहुँचाना। (३) साधु और गुरुदेवकी अवज्ञा करना। (४) भक्ति-शास्त्रोंकी अवहेलना करना। (५) शास्त्रोंमें लिखे गये हरिनामके माहात्म्यको सत्य न मानकर केवल अति स्तुतिमात्र समझना। (६) भगवन्नामको कल्पित समझना। (७) हरिनामके बल पर पाप कर्म करना। (८) अप्राकृत हरिनामको धर्म, व्रत, त्याग और होम आदि प्राकृत शुभ कर्मोंकी समश्रेणीमें समझना। (९) अनधिकारी (श्रद्धाहीन) लोगोंको हरिनाम देना। (१०) हरिनामका माहात्म्य सुनकर भी नामके प्रति अविश्वास और अरुचिके साथ तथा देहात्मबुद्धिका त्याग किये बिना हरिनाम ग्रहण करना। ये दस नामापराध हैं।

नामाभास दो प्रकारका होता है—(१) छाया-नामाभास और (२) प्रतिबिम्ब-नामाभास। स्वरूप-ज्ञानसे रहित अपराध-शून्य अवस्थामें जो हरिनाम उच्चारित होता है, वह नामाभास कहलाता है। वही सत्सङ्गमें रहते-रहते उनकी कृपासे स्वरूप-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शुद्धनाम होता है। अन्याभिलाषिता, ज्ञान-कर्म-योग और वैराग्य बुद्धिसे ढके हुए नामको प्रतिबिम्ब-नामाभास कहते हैं। कहीं-कहीं वह छाया-नामाभासप्राय हो पड़ता है, तो कहीं-कहीं नामापराध। सत्सङ्गमें निरन्तर हरिनाम अनुशीलनसे ही नामापराध दूर होता है; अन्य किसी भी दूसरे उपायसे नामापराध दूर नहीं होता।

शुद्ध हरिनाम ग्रहण करनेवाले वैष्णवजन ही "श्रीचैतन्यचरणानुगत वैष्णव" के रूपमें प्रसिद्ध हैं। सान्तर (जो निरन्तर नहीं होता)

नामानुशीलनकारी—'वैष्णव' हैं। निरन्तर नामानुशीलनकारी—'वैष्णवतर' हैं तथा जिनको दर्शन करने मात्रसे दूसरोंके मुखसे शुद्ध हरिनाम उच्चारित हों, वे 'वैष्णवतम' अर्थात् सर्वोत्तम हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य १५/१११; तथा १६/७२, ७४–७५ में श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—

अतएव जाँर मुखे एक कृष्ण नाम।
सेइ त वैष्णव, करिह ताँहार सम्मान॥
कृष्णनाम निरन्तर जाँहार वदने।
सेइ वैष्णव–श्रेष्ठ, भज ताँहार चरणे॥
जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम।
ताँहारे जानिह तुमि 'वैष्णव–प्रधान'॥
'क्रम करि' कहे प्रभु 'वैष्णव'–लक्षण।
'वैष्णव', 'वैष्णवतर' आर 'वैष्णवतम'॥

उपरोक्त लक्षणोंसे युक्त साधु–सन्तोंका सङ्ग करना ही कर्तव्य है। वैष्णवका सम्मान करना चाहिए। वैष्णवतर और वैष्णवतमका चरणाश्रय ग्रहण करना चाहिये। ऐसे–ऐसे वैष्णवोंको लेकर ही गृहस्थ वैष्णवोंको महोत्सव करना चाहिए। वैष्णव चाहे वे गृहस्थ हों, अथवा गृह–त्यागी हों, अपनी–अपनी श्रेणीमें सभी समान हैं। उदाहरणस्वरूप वैष्णवतम श्रेणीके गृहस्थ वैष्णव तथा त्यागी वैष्णव—दोनों ही समान पूज्य हैं; उनमेंसे किसी एक को कम पूजनीय समझना ठीक नहीं। वैष्णव सङ्ग करनेके लिए अपनेसे श्रेष्ठ वैष्णवको ढूँढ़ लेना चाहिए। इसके लिए भक्तिरसामृतसिन्धुमें (पू. वि. साधनभक्तिलहरीमें) श्रीरूपगोस्वामीका उपदेश है—

सजातीयाशये स्निग्धे साधौ संगः स्वतो वरे।
श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह॥

वैष्णवजनोंके पूर्वकृत पापों, क्रमशः क्षीण हो रहे पापों

अथवा अकस्मात् (दैवात्) उपस्थित हो जानेवाले पापोंके प्रति दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

"न प्राकृतत्त्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्"

(उपदेशामृत, छठवाँ श्लोक)

किसी अच्छे उद्देश्यके बिना किसीके पाप कार्योंकी चर्चा नहीं करनी चाहिए। सब जीवोंके प्रति यथोचित दया करनी चाहिए। अपनेको दीन-हीन जानकर सबका यथायोग्य सम्मान करते हुए स्वयं अमानी बननेकी चेष्टा करनी चाहिए। गृहस्थ वैष्णव अनासक्त भावमें कृष्ण-सम्बन्ध भावको पवित्ररूपमें मिलाकर यथायोग्य विषयोंको स्वीकार करते हुए हरिनाम रसका साधन करेंगे। कृष्ण रुचिके उदय होनेपर जब विषय-रुचि सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जायेगी, तब अपने-आप अभाव-संकोचरूप एक प्रकारका स्वाभाविक वैराग्य भाव उदित होगा। चेष्टा द्वारा वह वैराग्य उत्पन्न नहीं कराया जा सकता।

दोनों प्रकारकी साधन भक्तिमें सद्गुरुकी आवश्यकता होती है। वैधीभक्ति-जिज्ञासुको सद्गुरु उसकी रुचिके अनुसार आवश्यक विधियोंके पालनका उपदेश करेंगे तथा अनर्थ-निवृत्तिके पथकी शिक्षा देंगे। दूसरी ओर रागानुगा-भक्ति-जिज्ञासुको उसकी स्वाभाविक रुचिके उपयोगी रसके पथका निर्देश करेंगे। रुचि अथवा लोभ दो प्रकारका होता है—क्षणिक और नैसर्गिक। बहुतसे साधक श्रीनन्दबाबा और सुबलसखा आदिके चरित्रोंका श्रवण करके उन चरित्रोंमें विशेषरूपसे आनन्द प्राप्त करते हैं; कभी-कभी थोड़ा भाव भी दिखलाते हैं; परन्तु उनका वह आनन्द और भाव थोड़ी ही देर तक ठहरता है। ऐसे भावको "क्षणिक भाव" कहा जा सकता है। परन्तु ऐसे भावसे काम नहीं चलनेका। उस समय परीक्षा

करके यह देखना उचित होगा कि दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन चारों रसोंमें-से किस रसके प्रति जिज्ञासुकी नैसर्गिक रुचि है। नैसर्गिक भावके प्रति लक्ष्य रख करके ही सद्गुरु शिष्यको उसी भावके अनुगत करेंगे। अन्यथा अनधिकार दोषवशतः उपदिष्ट भाव स्थायी नहीं होगा। सभी जिज्ञासु मधुर रसके अधिकारी हैं या हो सकते हैं—यह बात ठीक नहीं। जो गुरु उपरोक्त अधिकारका ठीक-ठीक विचार करनेमें समर्थ नहीं हैं, उन्हें सरलताके साथ जिज्ञासु साधकको दूसरे उपयुक्त गुरुके पास जानेके लिए परामर्श दे देना चाहिए। सद्गुरु-पदाश्रय किये बिना शिष्यके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ग्रन्थ-विस्तारके भयसे यहाँ साधन भक्तिके विषयमें संक्षेप रूपमें लिखा गया है। विस्तारसे जाननेके लिए भक्तिरसामृतसिन्धुके पूर्व-विभाग तथा भक्ति सन्दर्भकी भलीभाँति आलोचना करनी चाहिए।

एकादश परिच्छेद

श्रीकृष्ण-प्रीति ही जीवका साध्य है

सारे वेदोंका प्रकाश करके तथा उन सबका पूर्णरूपसे अध्ययन एवं विवेचन करके भी लोक-पितामह ब्रह्माजी हजारों कल्पोंमें भी जिस तत्त्वको जान न सके, सर्वज्ञान-सम्पन्न तथा समस्त योग और वैराग्य मार्गके एकेश्वर होकर भी देवाधिदेव महादेव जिस तत्त्वकी सदा-सर्वदा खोज करते रहते हैं और मुक्त-जीव भी जिस वस्तुको स्व-महिमा जानकर नित्य आदर करते हैं, उस अखिल साधन-तत्त्वका एकमात्र साध्य-वस्तु एवं सभी शास्त्रोंका चरम प्रयोजनरूप परम पुरुषार्थ है—प्रेम। यहाँ उसी प्रेमके सम्बन्धमें दीनदयाल श्रीचैतन्य महाप्रभुके कृपाकणका अवलम्बन करके कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीरूप गोस्वामीको प्रेम-तत्त्वके सम्बन्धमें जो संक्षेपमें उपदेश किया था, वह श्रीचैतन्य-चरितामृतरूप सम्पुटमें छिपी चिन्तामणि-स्वरूप है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज॥
माली हइया करे सेइ बीज आरोपण।
श्रवण-कीर्तन-जले करये सेचन॥
उपजिया बाढ़े लता 'ब्रह्माण्ड' भेदि जाय।
विरजा, ब्रह्मलोक भेदि परव्योम पाय॥
तबे जाय तदुपरि गोलोक-वृन्दावन।
कृष्णचरण-कल्पवृक्षे करे आरोहण॥
ताहाँ विस्तारित हइया फले प्रेमफल।
इहाँ माली सेचे नित्य श्रवणकीर्तनादि जल॥

यदि वैष्णव–अपराध उठे हाथी माता।
उपाड़े वा छिण्डे, तार सुखि जाय पाता॥
ताते माली यत्न करि करे आवरण।
अपराध–हस्तीर जैछे ना हय उद्‌गम॥
किन्तु यदि लतार सङ्गे उठे उपशाखा।
भुक्ति–मुक्ति–वांछा, यत असंख्य तार लेखा॥
निषिद्धाचार, कुटिनाटी, जीव–हिंसन।
लाभ–पूजा, प्रतिष्ठादि जत उपशाखागण॥
सेक–जल पाञा उपशाखा बाड़ि जाय।
स्तब्ध हइया मूल–शाखा बाड़िते ना पाय॥
प्रथमेइ उपशाखार करये छेदन।
तबे मूलशाखा बाड़ि जाय वृन्दावन॥
प्रेमफल पाकि पड़े माली आस्वादय।
लता अवलम्बि माली कल्पवृक्ष पाय॥
ताहाँ सेइ कल्पवृक्षेर करये सेचन।
सुखे प्रेमफल–रस करे आस्वादन॥
एइ त परम फल—परम पुरुषार्थ।
जाँर आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ॥

(चै. च. म. १९/१५१–१६४)

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा कथित इस रूपकको श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने क्या ही अपार–पाण्डित्यके साथ अतीव प्राञ्जलरूपमें उपरोक्त पयारोंमें वर्णन किया है। यदि जीव इन पयारोंका अर्थ भलीभाँति समझ कर वैसा ही कार्य करने लगे, तो वह सहज ही धन्य हो सकता है। राशि–राशि शास्त्र–ग्रन्थोंके पाठसे जो फल नहीं मिलता, वही फल इन कतिपय पंक्तियोंको भलीभाँति

समझनेसे सहज ही पाया जा सकता है। कर्म और ज्ञानमार्गके चक्करमें पड़कर जीव अनादिकालसे आवागमन कर रहे हैं। जिस बार भक्ति-वासनारूप सुकृति प्रबल हो जाती है, उसी बार जीवकी भक्तिके प्रति श्रद्धा उदित होती है। श्रद्धा होने पर वह साधुगुरुका पदाश्रय ग्रहण करता है और उनके निर्देशानुसार उस भक्तिलताके बीज-स्वरूप श्रद्धाको अपने हृदय क्षेत्रमें अच्छी तरहसे बोता है। उस समय जीव स्वयं माली बनकर उसे हरिनाम आदि श्रवणकीर्त्तन-रूप जलसे सींचता है। श्रवण-कीर्त्तनरूपी जलको पाकर भक्तिलता-बीज अंकुरित होकर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जड़ीय जगत्‌को भेदकर चिज्जगत्‌की सीमारूप विरजाको पार कर निर्विशेष ब्रह्मधामको भी अतिक्रम कर चिद्विलासमय परव्योम वैकुण्ठमें प्रवेश करती है। ब्रह्माण्ड पार करते समय और भी एक प्रकरणकी प्राप्ति होती है; उसका नाम कृष्ण-कृपा है। जीव अपने चित्स्वरूपमें अतीव क्षुद्र है; इसीलिए उसे चित्कण भी कहते हैं। जब वह अपने स्वरूपकी ज्ञानवृत्तिद्वारा आलोचना करते-करते चित्स्वरूपको ढकने वाली जड़ उपाधियों और जड़ देहका त्याग करता है, उस समय विशेष-धर्म दूर होनेसे एवं अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण उसकी चित्-सत्ता नष्ट-प्राय होने लगती है। ऐसी दशामें कृष्णभक्तोंकी विशेष कृपासे कृष्णकी कृपा जीव-सत्ताकी रक्षा करती है। वह कृपा है—चिद्शक्तिगत ह्लादिनीशक्ति, जो अत्यन्त प्रभावशालिनी हैं। माया दूर होते समय चिद्विशेषको नष्ट होनेसे बचाकर जीवकी रक्षाके लिए अग्रसर होकर वे साधन भक्तिमें भावके रूपसे उदित होती है। उसी भावके सहारे जीव रति प्राप्त होकर क्रमशः ऊर्द्ध्वगति प्राप्त करते हैं। ह्लादिनीशक्तिकी कृपाके बिना जीव प्रेमरूप प्रयोजनको पानेका कभी भी अधिकारी नहीं हो सकता। ह्लादिनीका बल पाकर ही जीवकी

चित्वृत्ति ब्रह्मधामको भेदकर परव्योममें प्रवेश कर सकती है। परव्योमके ऊपरी भागमें श्रीगोलोक-वृन्दावन है। पूर्वोक्त भक्तिलता जो परव्योम तक बढ़ती हुई आ पहुँची थी, अब उसके ऊपरी भाग श्रीगोलोक-वृन्दावनमें पहुँचकर वह श्रीकृष्णके चरणरूप कल्पवृक्षके ऊपर फैल गयी। यहीं पर उस लतामें प्रेमरूपी फल लगने लगे। इधर माली (जीव) हरिनामादि श्रवण-कीर्त्तनरूप जलसे लता-मूलको निरन्तर सींचता रहता है। जिस समय लता अंकुरित होकर बढ़ने लगती है, उस समय मालीको उसकी रक्षाके लिए अनेक प्रकारसे सावधान रहना पड़ता है। वैष्णव-अपराध अर्थात् साधु-भक्तोंके प्रति हिंसा-द्वेष और निन्दादि रूप अपराध ही उन्मत्त हाथीके समान है, जो कभी भक्तिलताको तोड़ डालता है, जिससे लताकी पत्तियाँ सूख जाती हैं और कभी-कभी तो वह उस लताको जड़से ही उखाड़ कर फेंक देता है। ऐसा वैष्णव-अपराधरूपी हाथी भक्तिलताके समीप न आ सके, इसके लिए मालीको बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता होती है। अर्थात् भक्ति-साधकको वैष्णव-अपराधसे सर्वदा दूर रहनेकी चेष्टा करनी चाहिए। भक्तिलताके लिए और भी एक दूसरी बाधा है—उसके साथ उपशाखाओंका उगना, जो श्रवणकीर्तनरूपी जलको पाकर इतने अधिक बढ़ जाती हैं कि मूल भक्तिलताको चारों ओरसे ढककर उसे बढ़ने ही नहीं देतीं। ये उपशाखाएँ हैं—भोग, मोक्ष, सिद्धि आदिकी कामना, पापाचार, कुटिनाटी (व्यर्थके विषयोंमें मनोनिवेश), जीव-हिंसा, क्रूरता, शठता, प्रतिष्ठाकी कामना, अर्थ और पुण्य आदि प्राप्तिमें आग्रह। इसी प्रकार और भी अनेक उपशाखाएँ हैं। माली सावधानीसे इन सब उपशाखाओंको प्रारम्भमें ही—उगते-उगते ही उखाड़कर फेंक देता है। ऐसा करनेसे मूलशाखा अबाध गतिसे जड़जगत्को पार करके अप्राकृत धाम वृन्दावन तक चली जाती है। वहाँ उसमें प्रेमफल पक-पक कर

गिरते रहते हैं, जिनका माली परम आनन्दके साथ आस्वादन करता है। यही प्रेम परम पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्वर्ग इस पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमके समीप तृणके समान हैं।

अब प्रेमका स्वरूप और उसके प्रकारादिका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है। पहले 'भाव'की परिभाषा बतलाते हुए श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं—

शुद्धसत्त्व-विशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

(भ. र. सि. पू. वि. ३/१)

अर्थात् जो भक्ति शुद्धतत्त्व-स्वरूपा है, प्रेमरूप (उदय होने जा रहे) सूर्यकी किरण-स्थानीय है, तथा रुचिद्वारा चित्तको आर्द्र करने वाली है, उसे भाव कहते हैं।

पुनः प्रेमके सम्बन्धमें कहते हैं—

सम्यक् मसृणितस्वान्ते ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भ. र. सि. प्रे. ल. १म श्लोक)

कृष्णके प्रति शुद्धसत्त्व विशेष-स्वरूप, अतिशय प्रगाढ़ ममता सम्पन्न आर्द्र भावको ही प्रेम कहते हैं। सर्वप्रकाशिका स्वरूप शक्तिकी सम्वित् नामक वृत्तिको शुद्धसत्त्व कहते हैं। माया शक्तिके अन्तर्गत जो सत्त्व है, वह शुद्धसत्त्व नहीं—मिश्रसत्त्व है। कृष्णके प्रति प्रगाढ़ ममतासम्पन्न आर्द्रभाव चिच्छक्तिगत ह्लादिनीवृत्ति-विशेष है। ये दोनों एकत्र मिलित होने पर जीवके हृदयमें जो परम वृत्तिरूप चमत्कार भाव उदित होता है, उसे ही विशुद्ध प्रेम कहते हैं। जड़ जगत्में मायाकी सम्वित् और ह्लादिनी—ये दोनों वृत्तियाँ एकत्र मिलकर जिस जड़ीय प्रेमको उत्पन्न करती हैं, वह विशुद्ध चिद्गत प्रेमका हेय प्रतिफलन (छाया) मात्र है।

शुद्धसत्त्व-स्वरूप भाव तथा आर्द्रतारूप चेष्टा—ये दोनों ही प्रेममें लक्षित होते हैं। भाव ही स्थायी है, उसके प्रारम्भिक उदयको 'रति' कहते हैं; जैसे—

साधनभक्ति हइते हय 'रति'र उदय।
रति गाढ़ हइले तार 'प्रेम' नाम कय॥
प्रेम वृद्धिक्रमे—स्नेह, मान, प्रणय।
राग, अनुराग, भाव महाभाव हय॥

(चै. च. म. १७६-१७७)

अर्थात् साधन भक्तिसे 'रति'का उदय होता है। यही रति (भाव) प्रगाढ़ होनेपर 'प्रेम' कहलाती है। फिर यह प्रेम बढ़ता हुआ क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावकी अवस्था तक पहुँचता है।

भावको प्रीतिका अंकुर कहा गया है। इसके उदय होने पर कैसी अवस्था होती है, उसका श्रीचैतन्यचरितामृतमें बड़ा ही चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है—

एइ नव प्रीत्यांकुर जार चित्ते हय।
प्राकृत-क्षोभे ताँर क्षोभ नाहि हय॥
कृष्ण-सम्बन्ध बिना व्यर्थ काल नाहि जाय।
भुक्ति-सिद्धि-इन्द्रियार्थ ताँरे नाहि भाय॥
'सर्वोत्तम' आपनाके हीन करि माने।
कृष्ण कृपा करिबेन—दृढ़ करि जाने॥
समुत्कण्ठा हय सदा लालसा-प्रधान।
नामगाने सदा रुचि, लय कृष्णनाम॥
कृष्ण-गुणाख्याने हय सर्वदा आसक्ति।
कृष्ण-लीला स्थाने करे सर्वदा वसति॥

(चै. च. म. २३/२०, २२, २५, २८, ३१)

अर्थात् प्रीतिका अंकुर—यह भाव जिस सौभाग्यवान साधकके चित्तमें उग जाता है, उसके स्वभावमें निम्नलिखित नौ लक्षण लक्षित होते हैं—(१) प्राकृत-क्षोभ अर्थात् क्रोध, चित्त-चांचल्य आदि-कारण उपस्थित होने पर भी उसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता। (२) उसका कोई भी समय व्यर्थ नहीं जाता अर्थात् वह सर्वदा अपने तन, मन और वचनसे कृष्णसम्बन्धी क्रियाओं, चिन्तनों एवं कीर्त्तन आदिमें ही लगा रहता है। (३) सांसारिक भोग-विषयों, स्वर्गसुखों, नाना प्रकारकी सिद्धिजन्य सुखों तथा मुक्ति-सुख—इन सबके प्रति स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है। (४) सर्वोत्तम होने पर भी वैसा साधक अपनेको दीन-हीन मानता है। (५) उसे यह दृढ़ आशा हो जाती है कि 'कृष्ण मुझपर अवश्य ही कृपा करेंगे।' (६) उसके हृदयमें यह उत्कण्ठा बनी रहती है कि 'मुझ पर कब कृष्णकी कृपा होगी?' (७) कृष्णनामके कीर्तन करनेमें उसकी बड़ी रुचि होती है। (८) कृष्णकी लीलाकथाओंके श्रवण-कीर्तनमें अतिशय आसक्ति हो पड़ती है और (९) कृष्णकी लीलास्थलियोंमें ही निवास करता है। श्रीरूप गोस्वामी भी 'भक्तिरसामृतसिन्धुमें (पू. विरतिभक्ति लहरीके ग्यारहवें श्लोकमें) ऐसा ही कहते हैं—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचि॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने॥

साधकके चित्तमें भावका अंकुर उदय होनपर उसके स्वभावमें क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, समुत्कंठा, नाम-कीर्त्तनमें रुचि, कृष्णकी लीलाकथाओमें आसक्ति और उनकी लीला-स्थलियोंमें निवास आदि अनुभाव समूह परिलक्षित होते हैं।

यह रति ही प्रेमकी पहली अवस्था है तथा प्रेम ही रतिकी गाढ़ावस्था है। प्रेम यदि सूर्यस्वरूप है, तो रति या भाव उसकी किरणस्वरूप है। रतिके उदय होने पर सात्त्विक भाव-समूह अल्प-अल्प परिमाणमें उदित होते हैं। यह रति बद्धजीवकी मनोवृत्तिमें आविर्भूत होकर, स्वयं चिद्व्यापार होनेके कारण स्वप्रकाश-तत्त्व होने पर भी प्रकाश्य तत्त्वकी भाँति प्रतीत होती है और मनोवृत्तिके रूपमें लक्षित होती है। जगत्में रति दो प्रकारसे उदित होती है—(१) कृष्ण या कृष्णभक्तोंकी कृपासे और (२) साधन अभिनिवेशसे। जगत्में साधनाभिनिवेशज रति ही सर्वत्र लक्षित होती है। कृपा अथवा प्रसादज रतिका उदय विरले ही देखा जाता है। साधनाभिनिवेशज रति भी दो प्रकारकी होती है—(१) वैध-साधनसे उत्पन्न— वैधसाधनजरति और (२) रागानुग साधनसे उत्पन्न—रागानुगसाधनज रति।

रति अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ है। भोगकी कामना करनेवाले बुभुक्षु और मुक्तिकी अभिलाषा करनेवाले मुमुक्षु आदि साधकोंमें रतिके उदय होनेके जो सब लक्षण देखे जाते हैं, वह रति नहीं, बल्कि रतिका आभासमात्र होता है। उस रत्याभासको भी दो भागोंसे विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रतिबिम्ब-रत्याभास और (२) छाया-रत्याभास। उन सब लक्षणोंको देखकर अतत्त्वज्ञ व्यक्ति उन-उन रत्याभासोंको ही शुद्ध-रति मान लेते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी व्यक्तिको साधन करते नहीं देखा गया; फिर भी उसमें शुद्ध-रतिको उदित होते देखा जाता है। ऐसी दशामें ऐसा समझना चाहिए कि उस व्यक्तिका पूर्वकृत सुसाधन किसी कारणसे स्थगित था, उस कारणरूप विघ्नके दूर होते ही वही स्थगित सुसाधन फलके साथ व्यक्त हो पड़ा है।

जिस पुरुषके हृदयमें रति उदित हो गयी है, ऐसे व्यक्तिके आचार-व्यवहारमें कुछ दोष-सा दीख पड़े, तो वे भी कृतार्थ हैं; उनके प्रति दोषारोप नहीं करना चाहिए अथवा उनका अनादर नहीं करना चाहिए। वास्तवमें जातरति व्यक्तियोंका चरित्र सम्पूर्ण निर्मल होता है। कभी-कभी दूसरे निम्न अधिकारी व्यक्तियोंकी दृष्टिमें उनकी कोई-कोई साधारण क्रिया साधारण वैधाचारके विरुद्ध-सी दीख पड़ती है; परन्तु वास्तवमें उनके अधिकारमें वह कदापि दूषणीय नहीं होती।

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी (संचारी)—इन सामग्रियोंके मिलनसे रतिरूप प्रेम रस हो पड़ता है। रसके विषयमें पहले पाँचवें परिच्छेदमें "श्रीकृष्ण ही अखिल रसामृत समुद्र हैं"—प्रसङ्गमें बतलाया जा चुका है। उसका पुनः यहाँ पर उल्लेख करना व्यर्थ है। पाठक समझ लेंगे।

प्रेम दो प्रकारका होता है—केवल-प्रेम और महिम-ज्ञान-सम्पन्न प्रेम। रागानुग भक्तिके साधनसे 'केवल-प्रेम' का उदय होता है। विधि-मार्गीय साधक भक्त प्रायः महिम-ज्ञानयुक्त प्रेमको प्राप्त कर सार्ष्टि आदि अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाके अनुसार केवल-प्रेम ही सर्वोत्तम फल है। प्रेम भी भावोत्थ (भावसे उत्पन्न) और प्रसादोत्थ (कृपासे उत्पन्न) के भेदसे दो प्रकारका होता है। अन्तरङ्ग भक्त्यङ्गोंकी निरन्तर सेवाद्वारा परम उत्कर्षताको प्राप्त हुए भावको भावोत्थ-प्रेम कहते हैं। भावोत्थ-प्रेम भी दो प्रकारका होता है—वैध-भावोत्थ और रागानुगीय भावोत्थ। भगवान् या भगवद्भक्तोंके प्रसाद (कृपा) से उत्पन्न हुए प्रेमको प्रसादोत्थ-प्रेम कहते हैं। प्रसादोत्थ-प्रेम बिरला ही होता है। भावोत्थ-प्रेम ही साधारणतः उत्पन्न होता है।

श्रीचैतन्य चरितामृतमें भावोत्थ प्रेमके उदयका क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

कोन भाग्ये, कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेइ जीव साधुसङ्ग करय॥
साधुसङ्ग हइते हय श्रवण-कीर्तन।
साधनभक्त्ये हय सर्वानर्थ-निवर्त्तन॥
अनर्थ निवृत्ति हइले भक्ति 'निष्ठा' हय।
निष्ठा हइले श्रवणाद्ये 'रुचि' उपजय॥
रुचि भक्ति हैते हय 'आसक्ति' प्रचुर।
आसक्ति हैते चित्ते जन्मे कृष्णे प्रीत्यंकुर॥
सेइ 'रति' गाढ़ हैले धरे 'प्रेम' नाम।
सेइ प्रेमा—'प्रयोजन' सर्वानन्दधाम॥
याँर चित्ते कृष्ण-प्रेमा करये उदय।
ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा, विज्ञेह ना बुझय॥

(चै. च. म. २३/९-१३, ३५)

बड़े भाग्यसे किसी जीवके हृदयमें श्रद्धाका उदय होता है। श्रद्धा होने पर ही वह जीव साधुसंग करता है। साधुसंगसे क्रमशः श्रीगुरु-पदाश्रय करके श्रवण-कीर्तन आदि साधन-भक्तिके अंगोंका आचरण करता है। साधन-भक्तिके आचरणसे सब प्रकारके अनर्थ—सांसारिक आसक्तियाँ और देहात्मबुद्धि आदि दूर हो जाती हैं। अनर्थोंके दूर होने पर उसकी साधन-भक्ति निष्ठाका रूप धारण कर लेती है। निष्ठासे क्रमशः रुचि, रुचिसे आसक्ति और आसक्तिसे जीवके चित्तमें कृष्णके प्रति प्रीतिअंकुर—भाव या रतिका उदय होता है। यही रति अतिशय प्रगाढ़ होने पर 'प्रेम' कहलाती है। यह प्रेम ही जीवमात्रका चरम प्रयोजन है और सर्वानन्द-धाम है। जिस महासौभाग्यवानके चित्तमें कृष्ण-प्रेमका उदय हो जाता है,

उसकी बातें, उसकी क्रियाएँ तथा उसके हाव-भावको बड़े-बड़े विद्वान और बुद्धिमान् व्यक्ति भी समझ नहीं पाते।

इस विषयमें कारका—

आकर्ष सन्निधौ लौहः प्रवृत्ते दृश्यते यथा।
अणोर्महति चैतन्ये प्रवृत्तिः प्रीतिरेव सा॥
प्रतिफलन-धर्मत्वात् बद्धजीवे निसर्गतः।
इतरेषु च सर्वेषु रागोऽस्ति विषयादिषु॥
लिङ्गभङ्गोत्तरा भक्तिः शुद्धप्रीतिरनुत्तमा।
तत्पूर्वमात्मनिक्षेपात् भक्तिः प्रीतिमयी सती॥
कृष्ण-बहिर्मुखे सा च विषयप्रीतिरेव हि।
सा चैव कृष्णसान्मुख्यात् कृष्णप्रीतिः सुनिर्मला॥
रत्यादि-भावपर्यन्तं स्वरूपलक्षणं स्मृतम्।
दास्यसख्यादि-सम्बन्धात् स चैव रसतां व्रजेत्॥
तरंगरंगिणी प्रीतिश्चिद्विलास-स्वरूपिणी।
विषये सच्चिदानन्दे रसविस्तारिणी मता॥
प्रौढ़ानन्द-चमत्कार-रसः कृष्णे स्वभावतः॥
कृष्णेति नामधेयन्तु जनाकर्ष-विशेषतः।
चिद्घनानन्द-सर्वस्वं रूपं श्यामृतं प्रियम्॥
अनन्त गुण-सम्पूर्णो लीलाढ्यः गोपीवल्लभः।
एभिर्लिङ्गैर्हरिः साक्षात्दृश्यते प्रेष्ठमात्मनः॥
तेन वृन्दावने रम्ये तद्वने रमते तु यः।
स धन्यः शुद्धबुद्धो हि केनोपनिषदां मते॥

जिस प्रकार चुम्बक उपयुक्त निकट स्थल पर आते ही लोहा उसके प्रति स्वाभाविक धर्मवशतः आकर्षित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अणुचैतन्य जीव परम चैतन्यरूप कृष्णके प्रति

साम्मुख्य-दशामें स्वाभाविक रूपसे आकर्षित हो पड़ता है। जीवकी यह स्वाभाविक आकर्षित होनेकी प्रवृत्ति ही शुद्ध प्रीतिका स्वरूप-लक्षण है। यह राग-धर्म चित् जगतमें स्वभावसिद्ध है। जड़-जगत् इसी चित्जगत्का प्रतिफलन है। विकृतधर्मको अङ्गीकार करनेके कारण जीवका चित्प्रतिफलित जड़धर्ममें इतर विषयोंके प्रति निसर्गजात एक प्रकारका राग उत्पन्न हो गया है। बद्धजीवका लिंग-शरीरसे छुटकारा न होने तक उसके चित्तमें वस्तुसिद्ध शुद्ध भाव उदित नहीं होता। लिंगशरीर भङ्ग होने पर जो भक्ति लक्षित होती है, वही विशुद्ध प्रीति है। इससे पूर्व जड़ीय स्वरूपका तिरस्कार और चित्स्वरूपका आदर रूप आत्मनिक्षेप प्रक्रिया द्वारा जो भक्ति होती है, वह प्रीतिमयी तो हो सकती है, प्रीत्यात्मिका नहीं हो सकती। उसका लक्षण श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार बतलाया गया है—

रागात्मिका-भक्ति—'मुख्या' ब्रजवासी-जने।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा' नामे॥
लोभे ब्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥
बाह्य, अभ्यन्तर,—इहार दुइ त' साधन।
बाह्ये साधक देहे करे श्रवण-कीर्तन॥
मने निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रिदिने करे ब्रजे कृष्णेर सेवन॥
निजाभीष्ट कृष्ण-प्रेष्ठ पाछे त लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा॥

(म. २२/१४४, १४९, १५१-१५२)

रागात्मिका भक्ति कृष्णपरिकर व्रजवासियोंमें नित्य होती है। उसकी अनुगामिनी भक्तिका नाम रागानुगा है। इसमें व्रजवासियोंके

भावोंके प्रति लोभ रहता है तथा उनका आनुगत्य रहता है। रागानुगा प्रकृति शास्त्र युक्तिके बाध्य नहीं होती। इसके बाह्य और आभ्यन्तरिक-दो प्रकारके साधन हैं। साधक शरीरसे श्रवण-कीर्तन करना—बाह्य-साधन है। मन-ही-मन अपने सिद्ध देहकी भावना करके ब्रजमें राधाकृष्णकी अष्टकालीय सेवा करना—आभ्यन्तरीण मानसी-सेवा है।

विषय-प्रीति और कृष्ण-प्रीतिमें अन्तर यह है कि मूलतः एक ही प्रवृत्ति, जब वह जड़-विषयोंसे हटकर शुद्धरूपसे कृष्णउन्मुखी होती है, तब वह कृष्ण-प्रीति है; परन्तु वही जब कृष्णबहिर्मुखी होकर विषयोंकी ओर लग जाती है, तब उसे 'जड़प्रीति' या 'विषयासक्ति' कहते हैं। यह स्वरूप-लक्षण रतिसे लेकर महाभाव तक देखा जाता है। वही स्थायी भाव दास्य आदि सम्बन्धोंके उदयसे सामग्रियोंकी सहायतासे रसताको प्राप्त होता है। श्रीजीव गोस्वामीके प्रीति-सन्दर्भके वचन शिक्षाष्टक भाष्यमें इस प्रकार लिखे गये हैं—

उल्लासमात्राधिक्यव्यञ्जिता प्रीतिः रतिः शान्तरसेऽनुमीयते। यस्यां जातायामन्यत्र तुच्छबुद्धिश्च जायते। ममतातिशयाविर्भावेन समृद्धा प्रीतिः प्रेमा दास्यरसे लक्ष्यते। यस्मिन् जाते तत्प्रीति-भङ्गहेतवो न प्रभवन्ति। विश्रम्भात्मकः प्रेमा प्रणयः सख्ये प्रतीयते। यस्मिन् जाते संभ्रमाति-योग्यतायामपि तदभावः। प्रियत्वातिशयाभिमानेन कौटिल्यभास- पूर्वक भाव-वैचित्र्यं दधत् प्रणयो मानः। यस्मिन् जाते श्रीभगवानपि तत्प्रणयकोपात् प्रेममयं भयं भजते। चेतो द्रवातिशयात्मकः प्रेमैव स्नेहः। यस्मिन् जाते महाबाष्पादिविकारः। दर्शनातृप्तिस्तस्य परमसामर्थ्यादौ सत्यपि केषाञ्चिदनिष्टाशङ्का च जायते। द्वावेतौ वात्सल्ये लक्ष्यते। स्नेह एवाभिलाषात्मको रागः। यस्मिन् जाते क्षणिकस्यापि विरहस्यासहिष्णुता। तत्संयोगपरं दुःखमपि

सुखत्वेन भवति। तद्वियोगे तद्विपरीतम्। स एव रागोऽनुक्षणं स्वविषयं नवनवत्वेनानुभावयन् स्वयं च नव-नवीभवन्ननुरागः। यस्मिन् जाते परस्पर-भावातिशयः प्रेमवैचित्र्यं तत्सम्बन्धिन्यप्राणिन्यपि जन्मलालसा। विप्रलम्भे विस्फूर्त्तिश्च जायते। अनुराग एव असमोर्द्ध चमत्कारेण उन्मादनं महाभावः। यस्मिन् जाते योगे निमेषासहता-कल्पक्षणत्वमित्यादिकम्। वियोगे क्षणकल्प-त्वमित्यादिकम्। उभयत्र महोदीप्त्याशेषसात्विक विकारादिके जायत इति। [सन्मोदनभाष्य ७म श्लोक]

अप्रस्फुट-प्रीति प्रथमावस्थामें केवल उल्लासमयी होती है। तब उसका नाम—रति होता है। वैसी रति शान्तरसमें पायी जाती है। रतिके उदय होनेपर कृष्णके सिवा दूसरी वस्तुएँ अतीव तुच्छ प्रतीत होती हैं। उस उल्लासमयी रतिमें जब अतिशय ममताका आविर्भाव होता है, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। यह प्रेम दास्यरसमें अनुभूत होता है। प्रीतिभङ्गके कारणसमूह उपस्थित होनेपर भी जब प्रीति और भी प्रगाढ़ हो जाती है, तब उस विश्वासमय प्रेमकी ऊँची अवस्थाको 'प्रणय' कहते हैं। यह प्रणय सख्यरसमें परिलक्षित होता है। प्रणय उदित होनेपर संभ्रमयोग्य अवसर उपस्थित होने पर भी संभ्रम नहीं होता। प्रियत्वके अतिशय अभिमानमें जब प्रणय कुछ वक्रताके आभाससे युक्त होता है, तब वह प्रेमवैचित्र्यरूप प्रणय ही मान कहलाता है। मान होने पर श्रीभगवान् भी उस प्रेममय भयको स्वीकार करते हैं। चित्तको अत्यन्त द्रवीभूत करनेवाला गाढ़ प्रेम ही स्नेह है। स्नेह उत्पन्न होने पर महाबाष्पादि विकार लक्षित होने लगते हैं तथा तद्विषयमें (अपने प्रिय) महासामर्थ्य विद्यमान रहने पर भी उनके अनिष्टकी आशंका होने लगी है। स्नेह अभिलाषात्मक होने पर 'राग' कहलाता है। राग उत्पन्न होने पर क्षणभरका वियोग भी सहा

नहीं जाता। उस समय स्पष्टरूपसे दुःख भी सुख प्रतीत होता है और प्राण देकर भी अपने प्रियतमकी प्रीतिसाधनमें प्रवृत्त हो जाता है। वही राग जब अपने विषयको (प्रियतम कृष्णको) नित्य-नवीनरूपमें सर्वदा अनुभव करने लगता है, और नित्य-नवीन रूपमें प्रकाशित होता है, तब उसको 'अनुराग' कहते हैं। अनुराग पैदा होने पर परस्पर अत्यन्त वशतारूप प्रेमवैचित्र्यके द्वारा अपने प्रियतमसे सम्बन्धित बाँस, वस्त्र, तृण आदि अप्राणियोंमें भी जन्म लेनेकी लालसा देखी जाती है। विप्रलम्भमें विस्फूर्त्ति (बाह्यज्ञान रहित अवस्था) हो पड़ती है। जब अनुराग अत्यन्त प्रगाढ़ होकर असमोर्द्ध्व (जिसके न तो कोई बराबर हो और न जिससे कोई बड़ा हो) चमत्कारिताके सहित उन्मादन (उन्माद जैसी) अवस्थाको प्राप्त होता है, तब उसे 'महाभाव' कहते हैं। महाभावके उदय होने पर मिलनके समय आँखोंके पलकोंका गिरना भी सहा नहीं जाता तथा एक कल्पका समय भी क्षणभरकी भाँति बीत जाता है। वियोगमें क्षणभर भी कल्पके समान लम्बा जान पड़ता है। अनुराग और महाभावमें समस्त सात्त्विक आदि विकार समूह पूर्ण उज्ज्वल रूपमें (महादीप्त अवस्थामें) लक्षित होते हैं।

प्रीति अनन्त तरङ्गोंमें लहराती हुई चिद्विलास-स्वरूपिणी होकर सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्णमें सदा-सर्वदा रसका विस्तार करनेवाली होती है। प्रीति होने पर स्वाभाविकरूपमें कृष्णके प्रति प्रौढ़ानन्द चमत्कार रस प्रकटित होता है। कृष्णतत्त्व जीवको विशेषरूपसे आकर्षण करते हैं, इसलिए उनका नाम कृष्ण है। श्यामरूप चिद्घनानन्द-सर्वस्व होकर परमामृत और प्रीतिजनक हैं। गोपीवल्लभ कृष्ण अनन्त अप्राकृत कल्याण-गुणों से युक्त और नित्यलीलारससे परिपूर्ण हैं। इन नाम, रूप, गुण और

लीलापरिचयोंके द्वारा आत्माके प्रियतम-तत्त्व श्रीकृष्ण साक्षात् परिदृश्य हैं। उन कृष्णके साथ उनके नित्यलीला-धाम वृन्दावनमें जो रमण करते हैं, वे केनोपनिषद्‌के विचारसे धन्य हैं और शुद्ध-बुद्ध हैं।

पञ्चाङ्गे सद्धियामन्वयसुकृतिमतां सत्कृपैकप्रभावात्
राग प्राप्तेष्टदास्ये व्रजजनविहिते जायते लौल्यमद्धा।
वेदातीता हि भक्तिर्भवति तदनुगा कृष्णसेवैकरूपा
क्षिप्रं प्रीतिर्विशुद्धा समुदयति तया गौरशिक्षैव गूढ़ा॥

श्रीमूर्त्ति-सेवा, रसिक भक्तोंके सङ्गमें श्रीभागवत-तात्पर्य-आस्वादन, अपनेसे श्रेष्ठ रागमार्गीय साधुका सङ्ग, श्रीनामकीर्तन और श्रीमथुरा मण्डलमें वास-इन पाँच अङ्गोंका निरपराध चित्तसे सेवन करनेसे जो सुकृति होती है, उससे प्राप्त सत्कृपाके प्रभावसे राग-प्राप्त ब्रजवासियोंके परम इष्टदेव—श्रीकृष्णके दास्यमें लोभ पैदा होता है। उसी लोभसे ब्रजवासी-जनकी भावानुगा कृष्णसेवारूप वेदातीत रागानुग नामक साधन-भक्ति उदित होती है। उसी भक्तिका साधन करते-करते शीघ्र ही विशुद्ध अर्थात् केवला प्रीति उदित होती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीकी यही गूढ़ शिक्षा है।

★ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रार्पणमस्तु। ★

प्रेमा नामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिन-महामाधुरीषु प्रवेशः।
को वा जानाति राधां परमरस चमत्कार माधुर्यसीमा-
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत १३०)

हे भ्रातः! प्रेम-नामक परम पुरुषार्थका नाम किसने श्रवण किया था? श्रीहरिनामकी महिमा कौन जानता था? श्रीवृन्दावनकी परम चमत्कारमयी माधुरीमें किसका प्रवेश था? परमाश्चर्यमय माधुर्यरसकी पराकाष्ठा श्रीमती राधिकारूपी पराशक्तिको ही भला कौन जानता था? एकमात्र परम करुणामय श्रीचैतन्यचन्द्रने ही जीवोंके प्रति कृपापूर्वक इन सब तत्त्वोंका आविष्कार किया है।